मैं क्या हूँ?
श्रीराम शर्मा आचार्य

मैं क्या हूँ?

अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप का
बोध कराने वाली अपूर्व पुस्तक

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०– २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१३ मूल्य : ९.०० रुपये

भूमिका

इस संसार में जानने योग्य अनेक बातें हैं। विद्या के अनेकों सूत्र हैं, खोज के लिए, जानकारी प्राप्त करने के लिए, अमित मार्ग हैं। अनेकों विज्ञान ऐसे हैं, जिनकी बहुत कुछ जानकारी मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। क्यों ? कैसे ? कहाँ ? कब ? के प्रश्न हर क्षेत्र में वह फेंकता है। इस जिज्ञासा भाव के कारण ही मनुष्य अब तक इतना ज्ञानसंपन्न और साधनसंपन्न बना है। सचमुच ज्ञान ही जीवन का प्रकाश स्तंभ है।

जानकारी की अनेक वस्तुओं में से "अपने आपकी जानकारी" सर्वोपरि है। हम बाहरी अनेक बातों को जानते हैं या जानने का प्रयत्न करते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि हम स्वयं क्या हैं ? अपने आपके ज्ञान प्राप्त किए बिना जीवन क्रम बड़ा डाँवाडोल, अनिश्चित और कंटकाकीर्ण हो जाता है। अपने वास्तविक स्वरूप की जानकारी न होने के कारण मनुष्य न सोचने लायक बातें सोचता है और न करने लायक कार्य करता है। सच्ची सुख-शांति का राजमार्ग एक ही है, और वह है—"आत्मज्ञान।"

इस पुस्तक में आत्मज्ञान की शिक्षा है। "मैं क्या हूँ ?" इस प्रश्न का उत्तर शब्दों द्वारा नहीं, वरन् साधना द्वारा हृदयंगम कराने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है। यह पुस्तक अध्यात्म मार्ग के पथिकों का उपयोगी पथ प्रदर्शन करेगी, ऐसी हमें आशा है।

— **श्रीराम शर्मा आचार्य**

मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस,

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

मैं क्या हूँ

पहला अध्याय

कः काल कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरितिचिन्त्यं मुहुर्मुहुः।।

—चाणक्य नीति-४-१८

"कौन-सा समय है, मेरे मित्र कौन हैं, शत्रु कौन हैं, कौन-सा देश (स्थान) है, मेरी आय-व्यय क्या है, मैं कौन हूँ, मेरी शक्ति कितनी है ? इत्यादि बातों का बराबर विचार करते रहो।" सभी विचारकों ने ज्ञान का एक ही स्वरूप बताया है, वह है—'आत्मबोध !' अपने संबंध में पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। जीव असल में ईश्वर ही है। विकारों में बँधकर वह बुरे रूप में दिखाई देता है, परंतु उसके भीतर अमूल्य निधि भरी हुई। शक्ति का वह केंद्र है और इतनी शक्ति है, जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। सारी कठिनाइयाँ, सारे दुःख इसी बात के हैं कि हम अपने को नहीं जानते। जब आत्मस्वरूप को समझ जाते हैं, तब किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं रहता। आत्मस्वरूप का अनुभव करने पर वह कहता है—

"नाहं जातो जन्म मृत्युः कुतो मे, नाहं प्राणः क्षुत्पिपासा कुतो मे।
नाहं चित्तं शोकमोहौ कुतो मे, नाहं कर्ता बंधमोक्षौ कुतो मे।।"

मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, फिर मेरा जन्म-मृत्यु कैसे ? मैं प्राण नहीं हूँ, फिर भूख-प्यास मुझे कैसी ? मैं चित्त नहीं हूँ, फिर मुझे शोक-मोह कैसे ? मैं कर्ता नहीं हूँ फिर मेरा बंध मोक्ष कैसे ?

जब वह समझ जाता है कि मैं क्या हूँ ? तब उसे वास्तविक ज्ञान हो जाता है और सब पदार्थों का रूप ठीक से देखकर उसका उचित उपयोग कर सकता है। चाहे किसी दृष्टि से देखा जाए, आत्मज्ञान ही सर्वसुलभ और सर्वोच्च ज्ञान ठहरता है।

किसी व्यक्ति से पूछा जाए कि आप कौन हैं ? तो वह अपने वर्ण, कुल, व्यवसाय, पद या संप्रदाय का परिचय देगा। ब्राह्मण हूँ, अग्रवाल हूँ, बजाज हूँ, तहसीलदार हूँ, वैष्णव हूँ आदि उत्तर होंगे। अधिक पूछने पर अपने निवास स्थान, वंश, व्यवसाय आदि का अधिकाधिक विस्तृत परिचय देगा। प्रश्न के उत्तर के लिए ही यह सब वर्णन हो, सो नहीं, उत्तर देने वाला यथार्थ में अपने को वैसा ही मानता है। शरीर भाव में मनुष्य इतना तल्लीन हो गया है कि अपने आपको वह शरीर ही समझने लगा है।

वंश, वर्ण, व्यवसाय या पद शरीर का होता है। शरीर मनुष्य का एक परिधान है, औजार है, परंतु भ्रम और अज्ञान के कारण मनुष्य अपने आपको शरीर ही मान बैठता है और शरीर के स्वार्थ तथा अपने स्वार्थ को एक कर लेता है। इसी गड़बड़ी में जीवन अनेक अशांतियों, चिंताओं और व्यथाओं का घर बन जाता है।

मनुष्य शरीर में रहता है, यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि वह शरीर नहीं है। जब प्राण निकल जाते हैं, तो शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहता है, उसमें से कोई वस्तु घटती नहीं, तो भी वह मृत शरीर बेकाम हो जाता है। उसे थोड़ी देर रखा रहने दिया जाए, तो लाश सड़ने लगती है, दुर्गंध उत्पन्न होती है और कृमि पड़ जाते हैं। देह वही है, ज्यों की त्यों, पर प्राण निकलते ही उसकी दुर्दशा होने लगती है। इससे प्रकट है कि मनुष्य शरीर में निवास तो करता है, पर वस्तुतः वह शरीर से भिन्न है। इस भिन्न सत्ता को आत्मा कहते हैं। वास्तव में यही मनुष्य है। मैं क्या हूँ ? इसका सही उत्तर यह है कि, 'मैं आत्मा हूँ।'

शरीर और आत्मा की पृथकता की बात हम सब लोगों ने सुन रखी है। सिद्धांततः हम सब उसे मानते भी हैं। शायद कोई ऐसा विरोध करे कि देह से जीव पृथक् नहीं है, इस पृथकता की मान्यता सिद्धांत रूप से जैसे सर्व साधारण को स्वीकार है, वैसे ही व्यवहार में सभी लोग उसे अस्वीकार करते हैं। लोगों के व्यवहार ऐसे होते हैं, मानो वे वस्तुतः शरीर ही हैं। शरीर के हानि-लाभ ही उनके हानि-लाभ हैं। किसी व्यक्ति को बारीकी के साथ निरीक्षण किया जाए और देखा जाए कि वह क्या सोचता है ? क्या कहता है ? और क्या करता है ? तो पता चलेगा कि वह शरीर के बारे में सोचता है, उसी के संबंध में संभाषण करता है और जो कुछ करता है, शरीर के लिए करता है। शरीर को ही उसने 'मैं' मान रखा है।

शरीर आत्मा का मंदिर है। उसकी स्वस्थता, स्वच्छता और सुविधा के लिए कार्य करना उचित एवं आवश्यक है, परंतु यह अहितकर है कि केवल मात्र शरीर के ही बारे में सोचा जाए, उसे अपना स्वरूप मान लिया जाए और अपने वास्तविक स्वरूप को भुला दिया जाए। अपने आपको शरीर मान लेने के कारण शरीर के हानि-लाभों को भी अपने हानि-लाभ मान लेता है और अपने वास्तविक हितों को भूल जाता है। यह भूल-भुलैया का खेल जीवन को बड़ा कर्कश और नीरस बना देता है।

आत्मा शरीर से पृथक् है। शरीर और आत्मा के स्वार्थ भी पृथक् हैं। शरीर के स्वार्थों का प्रतिनिधित्व इंद्रियाँ करती हैं। दस इंद्रियाँ और ग्यारहवाँ मन यह सदा ही शारीरिक दृष्टिकोण से सोचते और कार्य करते हैं। स्वादिष्ट भोजन, बढ़िया वस्त्र, सुंदर-सुंदर मनोहर दृश्य, मधुर श्रवण, रूपवती स्त्री, नानाप्रकार के भोग-विलास यह इंद्रिय की आकांक्षा हैं। ऊँचा पद, विपुल धन, दूर-दूर तक यश, रौब-दाब, यह सब मन की आकांक्षाएँ हैं। इन्हीं इच्छाओं को तृप्त करने में प्रायः सारा जीवन लगता है। जब ये इच्छाएँ अधिक उग्र हो जाती हैं, तो मनुष्य उनकी किसी भी प्रकार

से तृप्ति करने की ठान लेता है और उचित-अनुचित का विचार छोड़कर जैसे भी बने वैसे स्वार्थ साधने की नीति पर उतर आता है। यही समस्त पापों का मूल केंद्र बिंदु है।

शरीर भाव में जाग्रत् रहने वाला मनुष्य यदि आहार, निद्रा, भय, मैथुन के साधारण कार्यक्रम पर चलता रहे तो भी उस पशुवत् जीवन में निरर्थकता ही है, सार्थकता कुछ नहीं। यदि उसकी इच्छाएँ जरा अधिक उग्र या आतुर हो जाएँ, तब तो समझिए कि वह पूरा पाप पुंज शैतान ही बन जाता है, अनीतिपूर्वक स्वार्थ साधने में उसे कुछ हिचक नहीं होती। इस दृष्टिकोण के व्यक्ति न तो स्वयं सुखी रहते हैं और न दूसरों को सुखी रहने देते हैं। काम और लोभ ऐसे तत्त्व हैं कि कितना ही अधिक-से-अधिक भोग क्यों न मिले वे तृप्त नहीं होते, जितना भी मिलता है उतनी ही तृष्णा के साथ-साथ अशांति, चिंता, कामना तथा व्याकुलता भी दिन दूनी और रात चौगुनी होती चलती है। इन भोगों में जितना सुख मिलता है उससे अनेक गुना दुःख भी साथ-ही-साथ उत्पन्न होता चलता है। इस प्रकार शरीरभावी दृष्टिकोण—मनुष्य को पाप, ताप, तृष्णा तथा अशांति की ओर घसीटे ले जाता है।

जीवन की वास्तविक सफलता और समृद्धि आत्मभाव में जाग्रत् रहने में है। जब मनुष्य अपने को आत्मा अनुभव करने लगता है तो उसकी इच्छा, आकांक्षा और अभिरुचि उन्हीं कामों की ओर मुड़ जाती है, जिनसे आध्यात्मिक सुख मिलता है। हम देखते हैं कि चोरी, हिंसा, व्यभिचार, छल एवं अनीति भरे दुष्कर्म करते हुए अंतःकरण में एक प्रकार का कोहराम मच जाता है, पाप करते हुए पाँव काँपते हैं और कलेजा धड़कता है। इसका तात्पर्य यह है कि इन कामों को आत्मा नापसंद करती है। यह उसकी रुचि एवं स्वार्थ के विपरीत है। किंतु जब मनुष्य परोपकार, परमार्थ, सेवा, सहायता, दान, उदारता, त्याग, तप से भरे हुए पुण्य कर्म करता है, तो हृदय के भीतरी कोने में बड़ा ही संतोष, हलकापन, आनंद एवं उल्लास

उठता है। इसका अर्थ है कि यह पुण्य कर्म आत्मा के स्वार्थ के अनुकूल है। वह ऐसे ही कार्यों को पसंद करता है। आत्मा की आवाज सुनने वाले और उसी की आवाज पर चलने वाले सदा पुण्यकर्मी होते हैं। पाप की ओर उनकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, इसलिए वैसे काम उनसे बन भी नहीं पड़ते।

आत्मा को तत्कालीन सुख सत्कर्मों में आता है। शरीर की मृत्यु होने के उपरांत जीव की सद्गति मिलने में भी हेतु सत्कर्म ही हैं। लोक और परलोक में आत्मिक सुख-शांति सत्कर्मों के ऊपर ही निर्भर है। इसलिए आत्मा का स्वार्थ पुण्य-प्रयोजन में है। शरीर का स्वार्थ इसके विपरीत है, इंद्रियाँ और मन संसार के भोगों को अधिकाधिक मात्रा में चाहते हैं। इस कार्य प्रणाली को अपनाने से मनुष्य नाशवान् शरीर की इच्छाएँ पूर्ण करने में जीवन को खर्च करता है और पापों का भार इकट्ठा करता रहता है। इससे शरीर और मन का अभिरंजन तो होता है, पर आत्मा को इस लोक और परलोक में कष्ट उठाना पड़ता है। आत्मा के स्वार्थ के सत्कर्मों में शरीर को भी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। तप, त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, सेवा, दान आदि के कार्यों में शरीर को कसा जाता है, तब ये सत्कर्म सधते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शरीर का स्वार्थ और आत्मा का स्वार्थ आपस में मेल नहीं खाता, एक के सुख में दूसरे का दुःख होता है। दोनों के स्वार्थ आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं।

इन दो विरोधी तत्त्वों में से हमें एक को चुनना होता है। जो व्यक्ति अपने आपको शरीर समझते हैं, वे आत्मा के सुख की परवाह नहीं करते और शरीर-सुख के लिए भौतिक संपदाएँ, भोग सामग्रियाँ एकत्रित करने में ही सारा जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे लोगों का जीवन पशुवत् पाप रूप, निकृष्ट प्रकार का हो जाता है। धर्म, ईश्वर, सदाचार, परलोक, पुण्य, परमार्थ की चर्चा वे भले ही करें पर यथार्थ में उनका पुण्य परलोक स्वार्थ-साधन की ही

चहारदीवारी के अंदर होता है। यश के लिए, अपने अहंकार को तृप्त करने के लिए, दूसरों पर अपना सिक्का जमाने के लिए, वे धर्म का कभी-कभी आश्रय ले लेते हैं। वैसे उनकी मनःस्थिति सदैव शरीर से संबंध रखने वाले स्वार्थ-साधनों में ही निमग्न रहती है, परंतु जब मनुष्य आत्मा के स्वार्थ को स्वीकार कर लेता है, तो उसकी अवस्था विलक्षण एवं विपरीत हो जाती है। भोग और ऐश्वर्य के प्रयत्न उसे बालकों की खिलवाड़ जैसे प्रतीत होते हैं। शरीर जो वास्तव में आत्मा का एक वस्त्र या औजार मात्र है, इतना महत्त्वपूर्ण उसे दृष्टिगोचर नहीं होता कि उसी के ऐश आराम में जीवन जैसे बहुमूल्य तत्त्व को बरबाद कर दिया जाए। आत्मभाव में जगा हुआ मनुष्य अपने आपको आत्मा मानता है और आत्मकल्याण के, आत्मसुख के कार्यों में ही अभिरुचि रखता तथा प्रयत्नशील रहता है। उसे धर्म-संचय के कार्यों में अपने समय को एक-एक घड़ी लगाने की लगन लगी रहती है। इस प्रकार शरीरभावी व्यक्ति का जीवन पाप की ओर, पशुत्व की ओर चलता है और आत्मभावी व्यक्ति का जीवन-प्रवाह पुण्य की ओर, देवत्व की ओर प्रवाहित होता है। यह सर्वविदित है कि इस लोक और परलोक में पाप का परिणाम दुखदायी और पुण्य का परिणाम सुखदायी होता है। अपने को आत्मा समझने वाले व्यक्ति सदा आनंदमयी स्थिति का रसास्वादन करते हैं।

जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, वह छोटी घटनाओं से अत्यधिक प्रभावित, उत्तेजित या अशांत नहीं होता। लाभ-हानि, जीवन-मरण, विरह-विछोह, मान-अपमान, लोभ, क्रोध, काम, भोग, राग-द्वेष की कोई घटना उसे अत्यधिक क्षुभित नहीं करती, क्योंकि वह जानता है कि यह सब परिवर्तनशील संसार में नित्य का स्वाभाविक क्रम है। मनोवांछित वस्तु या स्थिति सदा प्राप्त नहीं होती, कालचक्र के परिवर्तन के साथ-साथ अनिच्छित घटनाएँ भी घटित होती रहती हैं, इसलिए उन परिवर्तनों को एक मनोरंजन की तरह, नाट्य रंग-मंच की तरह, कुतूहल और विनोद की तरह

देखता है। किसी अनिच्छित स्थिति को सामने आया देखकर वह बेचैन नहीं होता। आत्मज्ञानी उन मानसिक कष्टों से सहज ही बचा रहता है, जिनमें से शरीरभावी लोग सदा व्यथित और बेचैन रहते हैं और कभी-कभी तो अधिक उत्तेजित होकर आत्महत्या जैसे दुःखद परिणाम उपस्थित कर लेते हैं।

जीवन को शुद्ध, सरल, स्वाभाविक एवं पुण्य-प्रतिष्ठा से भरा-पूरा बनाने का राजमार्ग यह है कि हम अपने आपको शरीरभाव से ऊँचा उठावें और आत्मभाव में जाग्रत् हों। इससे सच्चा सुख, शांति और जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति होती है। अध्यात्म विद्या के आचार्यों ने इस तथ्य को भली प्रकार अनुभव किया है और अपनी साधनाओं में सर्वप्रथम स्थान आत्मज्ञान को दिया है। मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न पर विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि मैं आत्मा हूँ।' यह भाव जितना ही सुदृढ़ होता जाता है उतने ही उसके विचार और कार्य आध्यात्मिक एवं पुण्य रूप होते जाते हैं। इस पुस्तक में ऐसी ही साधनाएँ निहित हैं जिनके द्वारा हम अपने आत्मरूप को पहिचानें और हृदयंगम करें। आत्मज्ञान हो जाने पर वह सच्चा मार्ग मिलता है, जिस पर चलकर हम जीवन-लक्ष्य को, परमपद को आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

आत्मस्वरूप को पहिचानने से मनुष्य समझ जाता है कि मैं स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर नहीं हूँ। यह मेरे कपड़े हैं। मानसिक चेतनाएँ भी मेरे उपकरण मात्र हैं। इनसे मैं बँधा हुआ नहीं हूँ। ठीक बात को समझते ही सारा भ्रम दूर हो जाता है और बंदर मुट्ठी का अनाज छोड़ देता है। आपने यह किस्सा सुना होगा कि एक छोटे मुँह के बर्तन में अनाज जमा था। बंदर ने उसे लेने के लिए हाथ डाला और मुट्ठी में भरकर अनाज निकालना चाहा। छोटा मुँह होने के कारण वह निकाल न सका, बेचारा पड़ा-पड़ा चीखता रहा कि अनाज ने मेरा हाथ पकड़ लिया है, पर ज्योंही उसे असलियत का बोध हुआ कि मैंने ही मुट्ठी बाँध रखी है, इसे छोड़ूँ तो सही। जैसे

ही उसने उसे छोड़ा कि अनाज ने बंदर को छोड़ दिया। काम, क्रोधादि हमें इसलिए सताते हैं कि उनकी दासता हम स्वीकार करते हैं। जिस दिन हम विद्रोह का झंडा खड़ा कर देंगे, भ्रम अपने बिल में धँस जाएगा। भेड़ों में पला हुआ शेर का बच्चा अपने को भेड़ समझता था, परंतु जब उसने पानी में अपनी तस्वीर देखी तो पाया कि मैं भेड़ नहीं, शेर हूँ। आत्मस्वरूप का बोध होते ही उसका सारा भेड़पन क्षणमात्र में चला गया। आत्मदर्शन की महत्ता ऐसी ही है, जिसने इसे जाना उसने उन सब दुःख-दरिद्रता से छुटकारा पा लिया, जिनके मारे वह हर घड़ी हाय-हाय किया करता था।

जानने योग्य इस संसार में अनेक वस्तुएँ हैं, पर उन सबमें प्रधान अपने आपको जानना है। जिसने अपने को जान लिया उसने जीवन का रहस्य समझ लिया। भौतिक विज्ञान के अन्वेषकों ने अनेक आश्चर्यजनक आविष्कार किए हैं। प्रकृति के अंतराल में छिपी हुई विद्युत् शक्ति, ईथर शक्ति, परमाणु शक्ति आदि को ढूँढ़ निकाला है। अध्यात्म जगत् के महान् अन्वेषकों ने जीवन-सिंधु का मंथन करके 'आत्मा' रूपी अमृत उपलब्ध किया है। इस आत्मा को जानने वाला सच्चा ज्ञानी हो जाता है और इसे प्राप्त करने वाला विश्व-विजयी मायातीत कहा जाता है। इसलिए हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने आपको जाने। मैं क्या हूँ ? इस प्रश्न को अपने आपसे पूछे और विचार, चिंतन तथा मननपूर्वक उसका सही उत्तर प्राप्त करे। अपना ठीक रूप मालूम हो जाने पर, हम अपने वास्तविक हित-अहित को समझ सकते हैं। विषयानुरागी अवस्था में जीव जिन बातों को लाभदायक समझता है, उनके लिए लालायित रहता है, वे लाभ आत्मानुरक्त होने पर तुच्छ एवं हानिकारक प्रतीत होने लगते हैं और माया लिप्त जीव जिन बातों से दूर भागता है, उसमें आत्मपरायण का रस आने लगता है। आत्मसाधन के पथ पर अग्रसर होने वाले पथिक की भीतरी आँखें खुल जाती हैं और वह जीवन के महत्त्वपूर्ण रहस्य को समझकर शाश्वत सत्य की ओर तेजी से कदम बढ़ाता चला जाता है।

अनेक साधक अध्यात्म-पथ पर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, पर उन्हें केवल एकांगी और आंशिक साधना करने के तरीके ही बताए जाते हैं। खुमारी उतारना तो वह है, जिस दशा में मनुष्य अपने रूप को भली भाँति पहचान सके। जिस इलाज से सिर्फ हाथ-पैर पटकना ही बंद होता है या आँखों की सुर्खी ही मिटती हो, वह पूरा इलाज नहीं। यज्ञ, तप, दान, व्रत, अनुष्ठान, जप आदि साधन लाभप्रद हैं, इनकी उपयोगिता से कोई इनकार नहीं कर सकता। परंतु यह वास्तविकता नहीं है। इससे पवित्रता बढ़ती है, सतोगुण की वृद्धि होती है, पुण्य बढ़ता है, किंतु वह चेतना प्राप्त नहीं होती, जिसके द्वारा संपूर्ण पदार्थों का वास्तविक रूप जाना जा सकता है और सारा भ्रम-जाल कट जाता है। इस पुस्तक में हमारा उद्देश्य साधक को आत्मज्ञान की चेतना में जगा देने का है, क्योंकि हम समझते हैं कि मुक्ति के लिए इससे बढ़कर सरल एवं निश्चित मार्ग हो नहीं सकता। जिसने आत्मस्वरूप का अनुभ्व कर लिया, सद्‌गुण उसके दास हो जाते हैं और दुर्गुणों का पता भी नहीं लगता कि वे कहाँ चले गए ?

आत्मदर्शन का यह अनुष्ठान साधकों को ऊँचा उठावेगा, इस अभ्यास के सहारे वे उस स्थान से ऊँचे उठ जाएँगे जहाँ कि पहले खड़े थे। इस उच्च शिखर पर खड़े होकर वे देखेंगे कि दुनिया बहुत बड़ी है। मेरा भार बहुत बड़ा है। मेरा राज्य बहुत दूर तक फैला हुआ है। जितनी चिंता अब तक थी उससे अधिक चिंता अब मुझे करनी है, वह सोचता है कि मैं पहले जितनी वस्तुओं को देखता था, उससे अधिक चीजें मेरी हैं। अब वह और ऊँची चोटी पर चढ़ता है कि मेरे पास कहीं इससे भी अधिक पूँजी तो नहीं है ? जैसे-जैसे ऊँचा चढ़ता है वैसे ही वैसे उसे अपनी वस्तुएँ अधिकाधिक प्रतीत होती जाती हैं और अंत में सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर वह जहाँ तक दृष्टि फैला सकता है, वहाँ तक अपनी ही अपनी सब चीजें देखता है। अब तक उसे एक बहन, दो भाई, माँ-बाप, दो घोड़े, दस नौकरों के पालन की चिंता थी, अब उसे

हजारों गुने प्राणियों के पालने की चिंता होती है। यही अहंभाव का प्रसार है। दूसरे शब्दो में इसी को अहंभाव का नाश कहते हैं। बात एक ही है फर्क सिर्फ कहने-सुनने का है। रबड़ के गुब्बारे जिनमें हवा भरकर बच्चे खेलते हैं, आपने देखे होंगे। इनमें से एक लो और उसमें हवा भरो। जितनी हवा भरती जाएगी, उतना ही वह बढ़ता जाएगा और फटने के अधिक निकट पहुँचता जाएगा। कुछ ही देर में उसमें इतनी हवा भर जाएगी कि वह गुब्बारे को फाड़कर अपने विराट् रूप आकाश में भरे हुए महान् वायुतत्त्व में मिल जाए। यही आत्मदर्शन प्रणाली है। आपको यह पुस्तक बतावेगी कि आत्मस्वरूप को जानो और विस्तार करो। बस इतने से ही सूत्र में वह सब महान् विज्ञान भरा हुआ है जिसके आधार पर विभिन्न अध्यात्म पथ बनाए गए हैं। वे सब इस सूत्र में बीज रूप से मौजूद हैं, जो किसी भी सच्ची साधना से कहीं भी और किसी भी प्रकार हो सकते हैं।

आत्मा के वास्तविक स्वरूप को एक बार झाँकी कर लेने वाला साधक फिर पीछे नहीं लौट सकता। प्यास के मारे जिसके प्राण सूख रहे हैं, ऐसा व्यक्ति सुरसरी का शीतल कूल छोड़कर क्या फिर उसी रेगिस्तान में लौटने की इच्छा करेगा, जहाँ प्यास के मारे क्षण-क्षण पर मृत्यु समान असहनीय वेदना अब तक अनुभव करता रहा है ? भगवान् कहते हैं—**"यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम् परमं मम।"** जहाँ जाकर फिर लौटना नहीं होता, ऐसा मेरा धाम है। सचमुच वहाँ पहुँचने पर पीछे को पाँव पड़ते ही नहीं। योग भ्रष्ट हो जाने का वहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। घर पहुँच जाने पर भी क्या कोई घर का रास्ता भूल सकता है ?

काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकार और इंद्रिय वासनायें मनुष्य के आनंद में बाधक बनकर उसे दुःख-जाल में डाले हुए हैं। पाप और बंधन ही यह मूल हैं। पतन इन्हीं के द्वारा होता है और क्रमशः नीच श्रेणी में इनके द्वारा जीव घसीटा जाता रहता है। विभिन्न

अध्यात्म पथों की विराट् साधनाएँ इन्हीं दुष्ट शत्रुओं को पराजित करने के चक्रव्यूह हैं। अर्जुन रूपी मन को इसी महाभारत में प्रवृत्त होने का भगवान् का उपदेश है।

इस पुस्तक के अगले अध्यायों में आत्मदर्शन के लिए जिन सरल साधनों को बताया गया है, उनकी साधना करने से हम उस स्थान तक ऊँचे उठ सकते हैं, जहाँ सांसारिक प्रवृत्तियों की पहुँच नहीं हो सकती। जब बुराई न रहेगी, तो जो शेष रह जाए, वह भलाई ही होगी। इस प्रकार आत्मदर्शन का स्वाभाविक फल दैवी संपत्ति को प्राप्त करना है। आत्मस्वरूप का, अहंभाव का आत्यंतिक विस्तार होते-होते रबड़ के थैले के समान बंधन टूट जाते हैं और आत्मा परमात्मा में जा मिलता है। इस भावार्थ को जानकर कई व्यक्ति निराश होंगे और कहेंगे—यह तो संन्यासियों का मार्ग है, जो ईश्वर में लीन होना चाहते हैं या परमार्थ साधना करना चाहते हैं, उनके लिए ही यह साधन उपयोगी हो सकता है। इसका लाभ केवल पारलौकिक है, किंतु हमारे जीवन का सारा कार्यक्रम इहलौकिक है। हमारा जो दैनिक कार्यक्रम व्यवसाय, नौकरी, ज्ञान-संपादन, द्रव्य उपार्जन, मनोरंजन आदि है, उसमें से थोड़ा समय पारलौकिक कार्यों के लिए निकाल सकते हैं, परंतु अधिकांश जीवनचर्या हमारी सांसारिक कार्यों में निहित है। इसलिए अपने अधिकांश जीवन के कार्यक्रम में हम इसका क्या लाभ उठा सकेंगे ?

उपर्युक्त शंका स्वाभाविक है, क्योंकि हमारी विचारधारा आज कुछ ऐसी उलझ गई है कि लौकिक और पारलौकिक स्वार्थों के दो विभाग करने पड़ते हैं। वास्तव में ऐसे कोई दो खंड नहीं हो सकते। जो लौकिक है, वही पारलौकिक है। दोनों एक-दूसरे से इतने अधिक बँधे हुए हैं जैसे पेट और पीठ। फिर भी हम पूरी विचारधारा को उलटकर पुस्तक के कलेवर

का ध्यान रखते हुए नये सिरे से समझाने की यहाँ आवश्यकता नहीं समझते। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि आत्मदर्शन व्यावहारिक जीवन को सफल बनाने की सर्वश्रेष्ठ कला है। आत्मोन्नति के साथ ही सभी सांसारिक उन्नति रहती है। जिसके पास आत्मबल है, उसके पास सब कुछ है और सारी सफलताएँ उसके हाथ के नीचे हैं।

साधारण और स्वाभाविक योग का सारा रहस्य इसमें छिपा हुआ है कि आदमी आत्मस्वरूप को जानें, अपने गौरव को पहचाने, अपने अधिकार की तलाश करें और अपने पिता की अतुलित संपत्ति पर अपना हक पेश करे। यह राजमार्ग है। सीधा, सच्चा और बिना जोखिम का है। यह मोटी बात हर किसी की समझ में आ जानी चाहिए कि अपनी शक्ति और साधनों की कार्यक्षमता की जानकारी एवं अज्ञानता किसी भी काम की सफलता-असफलता के लिए अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि उत्तम से उत्तम बुद्धि भी तब तक ठीक-ठीक फैसला नहीं कर सकती, जब तक उसे वस्तुओं का स्वरूप ठीक तौर से न मालूम हो जाए।

अध्यात्म शास्त्र कहता है कि—ऐ अविनाशी आत्माओं ! आप तुच्छ नहीं, महान् हो। आपके किसी अशक्तता का अनुभव करना या कुछ माँगना नहीं है। आप अनंत शक्तिशाली हो, तुम्हारे बल का पारावार नहीं। जिन साधनों को लेकर आप अवतीर्ण हुए हो, वे अचूक ब्रह्मास्त्र हैं। इनकी शक्ति अनेक इंद्रवज्रों से अधिक है। सफलता और आनंद आपका जन्मजात अधिकार है। उठो ! अपने को, अपने साधनों को और काम को भली प्रकार पहचानो तथा बुद्धिपूर्वक जुट जाओ। फिर देखें, कैसे वह चीजें नहीं मिलतीं, जिन्हें आप चाहते हो। आप कल्पवृक्ष हो, कामधेनु हो और सफलता की साक्षात् मूर्ति हो।

भय और निराशा का एक कण भी आपकी पवित्र रचना में नहीं लगाया गया है। यह लो, अपना अधिकार सँभालो।

यह पुस्तक बतावेगी कि आप शरीर नहीं हो, जीव नहीं हो, वरन् ईश्वर हो। शरीर की, मन की जितनी भी महान् शक्तियाँ हैं, वे आपके औजार हैं। इंद्रियों के आप गुलाम नहीं हो, आदतें आपको मजबूर नहीं कर सकतीं, मानसिक विकारों का कोई अस्तित्व नहीं, अपने को और अपने वस्त्रों को ठीक तरह से पहचान लो। फिर जीव का स्वाभाविक धर्म उनका ठीक उपयोग करने लगेगा। भ्रमरहित और तत्त्वदर्शी बुद्धि से हर काम कुशलतापूर्वक किया जा सकता है। यही कर्म-कौशल योग है। गीता कहती है—**'योगः कर्मसु कौशलम्।'** आप ऐसे ही कुशल योगी बनो। लौकिक और पारलौकिक कार्यों में आप अपना उचित स्थान प्राप्त करते हुए सफलता प्राप्त कर सको और निरंतर विकास की ओर बढ़ते चलो, यही इस साधन का उद्देश्य है।

ईश्वर आपको इसी पथ पर प्रेरित करें।

●

दूसरा अध्याय

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहु ना श्रुतेन।"

—कठो० १-२-२३

शास्त्र [illegible] है कि यह आत्मा प्रवचन, बुद्धि या बहुत सुनने से प्राप्त नहीं होती।

प्रथम अध्याय को समझ लेने के बाद आपको इच्छा हुई होगी कि उस आत्मा का दर्शन करना चाहिए, जिसे देख लेने के बाद और कुछ देखना बाकी नहीं रह जाता। यह इच्छा स्वाभाविक है। शरीर और आत्मा का गठबंधन कुछ ऐसा ही है, जिसमें जरा अधिक ध्यान से देखने पर वास्तविक झलक मिल जाती है। शरीर भौतिक, स्थूल पदार्थों से बना हुआ है, किंतु आत्मा सूक्ष्म है। पानी में तेल डालने पर वह ऊपर ही उठ आता है। लकड़ी के टुकड़े को तालाब में कितना ही नीचा पटको, वह ऊपर को ही आने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि तेल और [illegible] के परमाणु पानी की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हैं। गरमी ऊपर को उठती है, अग्नि लपटें ऊपर को ही उठेंगी। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति और वायु का दबाव उसे रोक नहीं सकता है। आत्मा शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है, इसलिए वह इसमें बँधी हुई होते हुए भी इसमें पूरी तरह घुल-मिल जाने की अपेक्षा ऊपर उठने की कोशिश करती रहती है। लोग कहते हैं कि इंद्रियों के भोग हमें अपनी ओर खींचे रहते हैं, पर यह बात सत्य नहीं है। सत्य के दर्शन कर सकने के योग्य सुविधा और शिक्षा प्राप्त न होने पर झख मारकर अपनी आंतरिक प्यास को बुझाने के लिए मनुष्य विषय भोगों की कीचड़ पीता है। यदि उसे एक बार भी आत्मानंद का चस्का लग जाता, तो दर-दर पर क्यों धक्के खाता फिरता ? हम जानते हैं कि इन पंक्तियों को पढ़ते समय आपका चित्त वैसी ही उत्सुकता और प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है, जैसी बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ परदेशी अपने घर-कुटुंब के

समाचार सुनने के लिए आतुर होता है। यह एक मजबूत प्रमाण है, जिससे सिद्ध होता है कि मनुष्य की आंतरिक इच्छा आत्मस्वरूप देखने की बनी रहती है। शरीर में रहता हुआ भी वह उसमें घुल-मिल नहीं सकता, वरन् उचक-उचककर अपनी खोई हुई किसी चीज को तलाश करता है। बस, वह स्थान जहाँ भटकता है, यही है। उसे यह याद नहीं आती कि मैं क्या चीज ढूँढ़ रहा हूँ ? मेरा कुछ खो गया है, इसका अनुभव करता है। खोई हुई वस्तु के अभाव में दुःख पाता है, किंतु माया-जाल के परदे से छिपी हुई चीज को नहीं जान पाता। चित्त बड़ा चंचल है, घड़ी भर भी एक जगह नहीं ठहरता। इसकी सब लोग शिकायत करते हैं, परंतु कारण नहीं जानते कि मन इतना चंचल क्यों हो रहा है ? वह अपनी खोई हुई वस्तु के लिए हाहाकार मचा रहा है। कस्तूरी मृग कोई अद्भुत गंध पाता है और उसके पास पहुँचने के लिए दिन-रात चारों ओर दौड़ता रहता है। क्षण भर भी उसे विश्राम नहीं मिलता। यही हाल मन का है। यदि वह समझ जाए कि कस्तूरी मेरी नाभि में रखी हुई है, तो वह कितना आनंद प्राप्त कर सके और सारी चंचलता भूल जाए।

आत्मदर्शन का मतलब अपनी सत्ता, शक्ति और साधनों का ठीक-ठीक स्वरूप अपने मानस-पटल पर इतनी गहराई के साथ अंकित कर लेना है कि वह दिन भर जीवन में कभी भी भुलाया न जा सके। तोता रटंत विद्या में आप बहुत प्रवीण हो सकते हो। इस पुस्तक में जितना कुछ लिखा है, उससे दस गुना ज्ञान आप सुना सकते हो, बड़े-बड़े तर्क उपस्थित कर सकते हो। शास्त्रीय बारीकियाँ निकाल सकते हो। परंतु ये बातें आत्ममंदिर के फाटक तक ही जाती हैं, इससे आगे इनकी गति नहीं है। रट्टू तोता पंडित नहीं बन सकता। शास्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि "यह आत्मा उपदेश, बुद्धि या बहुत सुनने से प्राप्त नहीं हो सकता।" अब तक आप इतना सुन चुके हो, जितना अधिकारी भेद के कारण आम लोगों को भ्रम में डाल देता है। आज हम आपके साथ कोई बहस

करने उपस्थित नहीं हुए हैं। यदि आपको यह विषय रुचिकर हो और आत्मदर्शन की लालसा हो तो हमारे साथ चले आओ, अन्यथा अपना मूल्यवान् समय नष्ट मत करो।

आत्मदर्शन की सीढ़ियों पर चढ़ने से पहले सर्वप्रथम समतल भूमि पर पहुँचना होगा। जहाँ आज आप भटक रहे हो, वहाँ से लौट आओ और उस भूमि पर स्थित हो जाओ, जिसे प्रवेश-द्वार कहते हैं। मान लो कि आपने अपने अन्य सब ज्ञानों को भुला दिया है और नये सिरे से किसी पाठशाला में भरती होकर क, ख, ग सीख रहे हो, इसमें अपमान मत समझो। आपका अब तक का ज्ञान झूठा नहीं है। आप उर्दू खूब पढ़े हो और यदि हिंदी द्वारा भी लाभ प्राप्त करना चाहो तो एकदम उसका दर्शनशास्त्र नहीं पढ़ने लगोगे, वरन् वर्णमाला ही से आरंभ करोगे। हम अपने आदरणीय और ज्ञानी जिज्ञासुओं की पीठ थपथपाते हुए दो कदम पीछे लौटने को कहते हैं, क्योंकि ऐसा करने से वे प्रथम सीढ़ी पर पाँव रख सकेंगे और आसानी एवं तीव्र गति से ऊपर चढ़ेंगे।

आपको विचार करना चाहिए कि जब 'मैं' कहता हूँ तब 'मैं' का क्या अभिप्राय होता है ? पशु-पक्षी तथा अन्य अविकसित प्राणियों में यह 'मैं' की भावना नहीं होती। भौतिक सुख-दुःख का तो वे अनुभव करते हैं, किंतु अपने बारे में कुछ अधिक नहीं सोच सकते। गधा नहीं जानता कि मुझ पर किस कारण बोझ लादा जाता है ? लादने वाले के साथ मेरा क्या संबंध है ? मैं किस प्रकार का अन्याय का शिकार बनाया जा रहा हूँ ? वह अधिक बोझ लद जाने पर कष्ट का और हरी घास मिल जाने पर शांति का अनुभव करता है, पर हमारी तरह सोच नहीं सकता। इन जीवों में शरीर ही आत्मस्वरूप है। क्रमशः अपना विकास करते-करते मनुष्य आगे बढ़ आया है। फिर भी कितने मनुष्य हैं, जो आत्मस्वरूप को जानते हैं ? तोते-रटंत दूसरी बात है। लोग आत्मज्ञान की कुछ चर्चा को सुनकर उसे मस्तिष्क में रिकॉर्ड की

तरह भर लेते हैं और समयानुसार उसमें से कुछ सुना देते हैं। ऐसे आदमियों की कमी नहीं, जो आत्मा के बारे में कुछ नहीं जानते। इनमें सोचने-विचारने की शक्ति जग गई है। उनका संसार आहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध, लोभ, मोह आदि तक ही सीमित होता है! इन्हीं समस्याओं को सोचने, समझने और हल करने लायक योग्यता उन्होंने प्राप्त की होती है। मूढ़ मनुष्य भद्दे भोगों से तृप्त हो जाते हैं, तो बुद्धिमान् कहलाने वाले उनमें सुंदरता लाने की कोशिश करते हैं। मजदूर को बैलगाड़ी में बैठकर जाना सौभाग्य प्रतीत होता है, तो धनवान् मोटर में बैठकर अपनी बुद्धिमानी पर प्रसन्न होता है। बात एक ही है। बुद्धि का जो विकास हुआ है, वह भोग-सामग्री को उन्नत और आकर्षक बनाने में हुआ है। समाज के अधिकांश सभ्य नागिरकों के लिए वास्तव में शरीर ही आत्मस्वरूप है। धार्मिक रूढ़ियों का पालन मन-संतोष के लिए वे करते रहते हैं, पर उससे आत्मज्ञान का कोई संबंध नहीं। लड़की के विवाह में दहेज देना पुण्य कर्म समझा जाता है, पर ऐसे पुण्य कर्मों से ही कौन मनुष्य अपने उद्देश्य तक पहुँच सका है ? यज्ञ, तप, ज्ञान, सांसारिक धर्म में लोकजीवन और समाज-व्यवस्था के लिए इन्हें करते रहना धर्म है, पर इससे आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मा इतनी सूक्ष्म है कि रुपया, पैसा, पूजा-पत्री, दान, मान आदि बाहरी वस्तुएँ उस तक नहीं पहुँच सकतीं, फिर इनके द्वारा उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

आत्मा के पास तक पहुँचने के साधन जो हमारे पास मौजूद हैं, वह चित्त, अंतःकरण, मन, बुद्धि आदि ही हैं। आत्मदर्शन की साधना इन्हीं के द्वारा हो सकती है। शरीर में सर्वत्र आत्मा व्याप्त है। कोई विशेष स्थान के लिए नियुक्त नहीं है, जिस पर किसी साधन विशेष का उपयोग किया जाए। जिस प्रकार आत्मा की आराधना करने में मन, बुद्धि आदि ही समर्थ हो सकते हैं, उसी प्रकार उनके स्थान और स्वरूप का दर्शन मानस-लोक में प्रवेश करने से हो सकता है। मानसिक लोक भी स्थूल लोक की तरह ही

है। उसमें इसी बाहरी दुनिया की ही अधिकांश छाया है। अभी हम कलकत्ते का विचार कर रहे हैं, अभी हिमालय पहाड़ की सैर करने लगे। अभी जिनका विचार किया था, वह स्थूल कलकत्ता और हिमालय नहीं थे, वरन् मानस-लोक में स्थित उनकी छाया थी, यह छाया असत्य नहीं होती। पदार्थों का सच्चा अस्तित्व हुए बिना कोई कल्पना नहीं हो सकती। इस मानस-लोक को भ्रम नहीं समझना चाहिए। यही वह सूक्ष्म चेतना है, जिसकी सहायता से दुनिया के सारे काम चल रहे हैं। एक दुकानदार जिस परदेश से माल खरीदने जाना है, वह पहले उस परदेश की यात्रा मानस-लोक में करता है और मार्ग में कठिनाइयों को देख लेता है, तदनुसार उन्हें दूर करने का प्रबंध करता है। उच्च आध्यात्मिक चेतनाएँ मानस-लोक से आती हैं। किसी के मन में क्या भाव उपज रहे हैं? कौन हमारे प्रति क्या सोचता है ? कौन संबंधी कैसी दशा में है, आदि बातों को मानस-लोक में प्रवेश करके हम अस्सी फीसदी ठीक-ठीक जान लेते हैं। यह तो साधारण लोगों के काम-काज की मोटी-मोटी बातें हुईं। लोग भविष्य को जान लेते हैं, भूतकाल का हाल बताते हैं, परोक्ष ज्ञान रखते हैं, सब ईश्वरीय चेतनाएँ मानस-लोक से आती हैं। उन्हें ग्रहण करके जीभ द्वारा प्रगट कर दिया जाता है। यदि यह मानसिक इंद्रियाँ न हुई होती, तो मनुष्य बिलकुल वैसा ही चलता-फिरता पुतला हुआ होता जैसे यांत्रिक मनुष्य विज्ञान की सहायता से यूरोप और अमेरिका में बनाए गए हैं। दस सेर मिट्टी और बीस सेर पानी के बने हुए इस पुतले की आत्मा और सूक्ष्म जगत् से संबंध जोड़ने वाली चेतना यह मानस-लोक ही समझनी चाहिए।

अब हमारा प्रयत्न होगा कि आप मानसिक लोक में प्रवेश कर चलो और वहाँ बुद्धि के दिव्य चक्षुओं द्वारा आत्मा का दर्शन और अनुभव करो। यही एक मार्ग दुनिया के संपूर्ण साधकों का है। तत्त्वदर्शन मानस-लोक में प्रवेश करके बुद्धि की सहायता द्वारा ही होता है। इसके अतिरिक्त आज तक किसी ने कोई और मार्ग अभी

तक नहीं ढूँढ़ पाया है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ही योग की उच्च सीढ़ियाँ हैं। आध्यात्मिक साधक-योगी यम, नियम, आसन, प्राणायाम अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। हठ योगी नेती, धौति, बस्ति, बज्रोली आदि करते हैं। अन्य मतावलंबियों की साधनाएँ अन्य प्रकार की हैं। ये सब शारीरिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए हैं। शरीर को स्वस्थ रखना इसलिए जरूरी समझा जाता है कि मानसिक अभ्यासों में गड़बड़ी न हो। हम अपने साधकों को स्वस्थ शरीर रखने का उपदेश करते हैं। आज की परिस्थितियों में उन उग्र शारीरिक व्यायामों की नकल करने में हमें कोई विशेष लाभ प्रतीत नहीं होता। धुएँ से भरे हुए शहरी वायुमंडल में रहने वाले व्यक्ति को उग्र प्राणायाम करने की शिक्षा देना उसके साथ अन्याय करना है। फल और मेवे खाकर पर्वत प्रदेशीय नदियों का अमृत जल पीने वाले और इंद्रिय भोगों से दूर रहने वाले स्वस्थ साधक हठयोग के जिन कठोर व्यायामों को करते हैं, उनकी नकल करने के लिए यदि आपसे कहें, तो हम एक प्रकार का पाप करेंगे और बिना वास्तविकता को जाने उन शारीरिक तपों में उलझने वाले साधक, उस मेढकी का उदाहरण बनेंगे जो घोड़ों को नाल ठुकवाते देखकर आपे से बाहर हो गई थी और अपने पैरों में भी वैसी ही कील ठुकवाकर मर गई थी। स्वस्थ रहने के साधारण नियमों को सब लोग जानते हैं। उन्हें ही कठोरतापूर्वक पालन करना चाहिए। यदि कोई रोगी हो तो किसी कुशल चिकित्सक से इलाज कराना चाहिए। इस संबंध में एक स्वतंत्र पुस्तक प्रकाशित करेंगे। पर इस साधन के लिए किसी ऐसी शारीरिक योग्यता की आवश्यकता नहीं है, जिसका साधन चिरकाल में पूरा हो सकता हो। स्वस्थ रहो, प्रसन्न रहो, बस इतना ही काफी है।

अच्छा चलो, अब साधना की ओर चलें। किसी एकांत स्थान की तलाश करो। जहाँ किसी प्रकार के भय या आकर्षण की वस्तुएँ न हों, वह स्थान उत्तम है। यद्यपि पूर्ण एकांत के आदर्श स्थान सदैव प्राप्त नहीं होते, तथापि जहाँ तक हो सके निर्जन और कोलाहल से

रहित स्थान तलाश करना चाहिए। इस कार्य के लिए नित नये स्थान बदलने की अपेक्षा एक जगह नियत कर लेना अच्छा है। वन, पर्वत, नदी तट आदि की सुविधा न हो, तो एक छोटा-सा स्वच्छ कमरा इसके लिए चुन लो, जहाँ आपका मन जुट जावे। इस तरह मत बैठो, जिससे नाड़ियों पर तनाव पड़े। अकड़कर, छाती या गरदन फुलाकर, हाथों को मरोड़कर या पाँवों को ऐंठकर एक-दूसरे के ऊपर चढ़ाते हुए बैठने के लिए हम नहीं कहेंगे, क्योंकि इन अवस्थाओं में शरीर को कष्ट होगा और वह अपनी पीड़ा की पुकार बार-बार मन तक पहुँचाकर उसे उचटने के लिए विवश करेगा। शरीर को बिलकुल शिथिल कर देना चाहिए, जिससे समस्त मांस-पेशियाँ ढीली हो जावें और देह का प्रत्येक कण शिथिलता, शांति और विश्राम का अनुभव करे। इस प्रकार बैठने के लिए आरामकुरसी बहुत अच्छी चीज है। चारपाई पर लेट जाने से भी काम चल जाता है, पर सिर को कुछ ऊँचा रखना जरूरी है। मसंद, कपड़ों की गठरी या दीवार का सहारा लेकर भी बैठा जा सकता है। बैठने का कोई भी तरीका क्यों न हो, उसमें यही बात ध्यान रखने की है कि शरीर रूई की गठरी जैसा ढीला पड़ जावे, उसे अपनी साज-सँभाल में जरा-सा भी प्रयत्न न करना पड़े। उस दशा में यदि समाधि चेतना आने लगे, तब शरीर के इधर-उधर लुढ़क पड़ने का भय न रहे। इस प्रकार बैठकर कुछ शरीर को विश्राम और मन को शांति का अनुभव करने दो। प्रारंभिक समय में यह अभ्यास विशेष प्रयत्न के साथ करना पड़ता है। पीछे अभ्यास बढ़ जाने पर साधक जब चाहे तब शांति का अनुभव कर लेता है, चाहे वह कहीं भी और कैसी भी दशा में क्यों न हो ! सावधान रहिए, यह दशा तुमने स्वप्न देखने या कल्पना जगत् में चाहे जहाँ उड़ जाने के लिए पैदा नहीं की है और न इसलिए कि इंद्रिय विकार इस एकांत वन में कबड्डी खेलने लगें। ध्यान रखिए अपनी इस ध्यानावस्था को भी काबू में रखना और इच्छानुवर्ती बनाना है। यह अवस्था इच्छापूर्वक किसी निश्चित कार्य पर लगाने के लिए पैदा की गई है। आगे चलकर यह ध्यानावस्था चेतना का एक अंग बन

जाती है और फिर सदैव स्वयमेव बनी रहती है। तब उसे ध्यान द्वारा उत्पन्न नहीं करना पड़ता, वरन् भय, दुःख, क्लेश, आशंका, चिंता आदि के समय में बिना यत्न के ही वह जाग पड़ती है और साधक अनायास ही उन दुःख-क्लेशों से बच जाता है।

हाँ, तो उपर्युक्त ध्यानावस्था में होकर अपने संपूर्ण विचारों को 'मैं' के ऊपर इकट्ठा करो। किसी बाहरी वस्तु या किसी आदमी के संबंध में बिलकुल विचार मत करो। भावना करनी चाहिए कि मेरी आत्मा यथार्थ में एक स्वतंत्र पदार्थ है। वह अनंत बल वाला अविनाशी, अखंड है। वह एक सूर्य है, जिसके इर्द-गिर्द हमारा संसार बराबर घूम रहा है, जैसे सूर्य के चारों ओर नक्षत्र आदि घूमते हैं। अपने को केंद्र मानना चाहिए, सूर्य जैसा प्रकाशवान्। इस भावना को बराबर लगातार अपने मानस-लोक में प्रयत्न की कल्पना और रचना शक्ति के सहारे, मानस-लोक के आकाश में अपनी आत्मा को सूर्यरूप मानते हुए केंद्र की तरह स्थित हो जाओ और आत्मा से अतिरिक्त अन्य सब चीजों को नक्षत्र तुल्य घूमती हुई देखो। वे मुझसे बँधी हुई हैं, मैं उनसे बँधा नहीं हूँ। अपनी शक्ति से मैं उनका संचालन कर रहा हूँ। फिर भी वे वस्तुएँ मेरी या मैं नहीं हूँ, लगातार परिश्रम के बाद कुछ दिनों में यह चेतना दृढ़ हो जाएगी।

वह भावना झूठी या काल्पनिक नहीं है। विश्व का हर एक जड़, चेतन, परमाणु बराबर घूम रहा है। सूर्य के आस-पास पृथ्वी आदि ग्रह घूमते हैं और समस्त मंडल एक अदृश्य चेतना की परिक्रमा करता रहता है। हृदयगत चेतना के कारण रक्त हमारे शरीर की परिक्रमा करता रहता है। शब्द, शक्ति, विचार या अन्य प्रकार के भौतिक परमाणुओं का धर्म परिक्रमा करते हुए आगे बढ़ना है। हमारे आस-पास की प्रकृति का यह स्वाभाविक धर्म अपना काम कर रहा है। हमसे भी जिन परमाणुओं का काम पड़ेगा, वह स्वभावतः हमारी परिक्रमा करेंगे, क्योंकि हम चेतना के केंद्र हैं। इस बिलकुल स्वाभाविक चेतना को भली-भाँति हृदयंगम कर लेने

से आपको अपने अंदर एक विचित्र परिवर्तन मालूम पड़ेगा। ऐसा अनुभव होता हुआ प्रतीत होगा कि मैं चेतना का केंद्र हूँ और मेरा संसार, मुझसे संबंधित समस्त भौतिक पदार्थ मेरे इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। मकान, कपड़े, जेबर, धन-दौलत आदि मुझसे संबंधित हैं, पर वह मुझमें व्याप्त नहीं, बिलकुल अलग हैं। अपने को चेतना का केंद्र समझने वाला, अपने को माया से संबंधित मानता है, पर पानी में पड़े हुए कमल के पत्ते की तरह कुछ ऊँचा उठा रहता है, उसमें डूब नहीं जाता। जब वह अपने को तुच्छ, अशक्त और बँधे हुए जीव की अपेक्षा चेतन-सत्ता और प्रकाश केंद्र स्वीकार करता है, तो उसे उसी के अनुसार परिधान भी मिलते हैं। बच्चा जब बड़ा हो जाता है, तो उसके छोटे कपड़े उतार दिए जाते हैं। अपने को हीन, नीच और शरीराभिमानी तुच्छ जीव जब तक समझोगे, तब तक उसी के लायक कपड़े मिलेंगे, लालच, भोगेच्छा, कामेच्छा, चाटुकारिता, स्वार्थपरता आदि गुण आपको पहनने पड़ेंगे, पर जब अपने स्वरूप को महानतम अनुभव करोगे, तब यह कपड़े निरर्थक हो जाएँगे। छोटा बच्चा कपड़े पर टट्टी कर देने में कुछ बुराई नहीं समझता, किंतु बड़ा होने पर वह ऐसा करने में घृणा करता है। कदाचित् बीमारी की दशा में वह ऐसा कर भी बैठे, तो अपने आपको बड़ा धिक्कारता है और शर्मिंदा होता है। नीच विचार, हीन भावनाएँ पाशविक इच्छाएँ और क्षुद्र स्वार्थपरता ऐसे ही गुण हैं, जिन्हें देखकर आत्मचेतना में विकसित हुआ मनुष्य घृणा करता है। उसे अपने आप वह गुण मिल गए होते हैं, जो उसके इस शरीर के लिए उपयुक्त हैं। उदारता, विशाल हृदयता, दया, सहानुभूति, सचाई प्रभृति गुण ही तब उसके लायक ठीक वस्त्र होते हैं। बड़ा होते ही मेंढक की लंबी पूँछ जैसे स्वयमेव झड़ पड़ती है, वैसे ही दुर्गुण उससे विदा होने लगते हैं और वयोवृद्ध हाथी के दाँतों की तरह सद्गुण क्रमशः बढ़ते रहते हैं।

अपने को प्रकाश केंद्र अनुभव करने के लिए तर्कों से काम न चल सकेगा, क्योंकि हमारी तर्क बहुत ही लँगड़ी और अंधी है।

तर्कों के सहारे यह नहीं सिद्ध हो सकता कि वास्तव में वही हमारा पिता है, जिसे पिताजी कहकर संबोधित करते हैं। इसलिए योगाभ्यास के दैवी अनुष्ठान में इस अपाहिज तर्क का बहिष्कार करना पड़ता है और धारणा, ध्यान एवं समाधि को अपनाना पड़ता है। आत्मस्वरूप के अनुभव में यह तर्क-वितर्क बाधक न बनें, इसलिए कुछ देर के लिए विदा कर दो। विश्वास रखो, इन पंक्तियों का लेखक आपको भ्रम में फँसाने या कोई गलत-हानिकारक साधन बताने नहीं जा रहा है। उसका निश्चित विश्वास है और वह शपथपूर्वक आपसे कहता है कि मेरे ऊपर विश्वास रखने वाले साधक ! यह ठीक रास्ता है, मेरा देखा हुआ है। आओ, पीछे-पीछे चले आओ, आपको कहीं धकेला नहीं जाएगा, वरन् एक ठीक स्थान पर पहुँचा दिया जाएगा। साधन की विधि में बार-बार ध्यानावस्थित होकर मानस-लोक में प्रवेश करो। अपने को सूर्य समान प्रकाशवान् सत्ता के रूप में देखो और अपना संसार अपने आस-पास घूमता हुआ अनुभव करो। इस अभ्यास को लगातार जारी रखो और इसे हृदय-पट पर गहरा अंकित कर लो तथा इस श्रेणी पर पहुँच जाओ कि जब आप कहें कि 'मैं', तब उसके साथ ही चित्त में चेतना, विचार शक्ति और प्रतिभा सहित केंद्रस्वरूप चित्र भी जाग उठे। संसार पर जब दृष्टि डालो तो वह आत्म-सूर्य की परिक्रमा करता नजर आए।

उपर्युक्त आत्मस्वरूप दर्शन के साधन में शीघ्रता होने के लिए आपको हम एक और विधि बताते हैं। ध्यान की दशा में होकर अपने ही नाम को बार-बार, धीरे-धीरे, गंभीरता और इच्छापूर्वक जपते जाओ। इस अभ्यास से मन आत्मस्वरूप पर एकाग्र होने लगता है। लार्ड टेनिसन ने अपनी आत्मशक्ति को इसी उपाय से जगाया था, वे लिखते हैं—'इसी उपाय से हमने कुछ आत्मज्ञान प्राप्त किया है। अपनी वास्तविकता और अमरता को जाना है एवं अपनी चेतना के मूल-स्रोत का अनुभव कर लिया है।'

कुछ जिज्ञासु आत्मस्वरूप का ध्यान करते समय 'मैं' को शरीर के साथ जोड़कर गलत धारणा कर लेते हैं और साधना करने में गड़बड़ा जाते हैं। इस विघ्न को दूर कर देना आवश्यक है, अन्यथा इस पंचभूत शरीर को आत्मा समझ बैठने पर तो एक अत्यंत नीच कोटि का थोड़ा-सा फल प्राप्त हो सकेगा।

इस विघ्न को दूर करने के लिए ध्यानावस्थित होकर ऐसी भावना करो कि मैं शरीर से पृथक् हूँ। उसका उपयोग वस्त्र या औजार की तरह करता हूँ। शरीर को वैसा ही समझने की कोशिश करो, जैसा पहनने के कपड़े को समझते हो। अनुभव करो कि शरीर को त्यागकर भी आपका 'मैं' बना रह सकता है। शरीर को त्यागकर और ऊँचे स्थान से उसे देखने की कल्पना करो। शरीर को एक पोले घोंसले के रूप में देखो, जिसमें से आसानी के साथ आप बाहर निकल सकते हो। ऐसा अनुभव करो कि इस खोखले को मैं ही स्वस्थ, बलवान्, दृढ़ और गतिवान् बनाए हुए हूँ, उस पर शासन करता हूँ और इच्छानुसार काम में लाता हूँ। मैं शरीर नहीं हूँ, वह मेरा उपकरण मात्र है। उसमें एक मकान की भाँति विश्राम करता हूँ। देह भौतिक परमाणुओं की बनी हुई है और उन अणुओं को मैंने ही इच्छित वेश के लिए आकर्षित कर लिया है। ध्यान में शरीर को पूरी तरह भुला दो और 'मैं' पर समस्त भावना एकत्रित करो, तब आपको मालूम पड़ेगा कि आत्मा शरीर से भिन्न है। यह अनुभव कर लेने के बाद जब आप 'मेरा शरीर' कहोगे, तो पूर्व की भाँति नहीं, वरन् एक नये ही अर्थ में कहोगे।

उपर्युक्त भावना का तात्पर्य यह नहीं है कि आप शरीर की उपेक्षा करने लगो। ऐसा करना तो अनर्थ होगा। शरीर को आत्मा का पवित्र मंदिर समझो, उसकी सब प्रकार से रक्षा करना और सुदृढ़ बनाए रखना आपका परम पावन कर्तव्य है।

शरीर से पृथकत्व की भावना जब तक साधारण रहती है, तब तक तो साधक का मनोरंजन होता है, पर जैसे ही वह दृढ़ता

को प्राप्त होती है, वैसे ही मृत्यु हो जाने जैसा अनुभव होने लगता है और वे वस्तुएँ दिखाई देने लगती हैं, जिन्हें हम साधना के स्थान पर बैठकर खुली आँखों से नहीं देख सकते। सूक्ष्म जगत् की कुछ धुँधली झाँकी उस समय होती है और कई परोक्ष बातें एवं दैवी दृश्य दिखाई देने लगते हैं। इस स्थिति में नये साधक डर जाते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि इसमें डरने की कोई बात नहीं है। केवल साधन में कुछ शीघ्रता हो गई है और पूर्व संस्कारों के कारण इस चेतना में जरा-सा झटका लगते ही वह अचानक जाग पड़ी है। इस श्रेणी तक पहुँचने में जब क्रमशः और धीरे-धीरे अभ्यास होता है, तो कुछ आश्चर्य नहीं होता। साधना की उच्च श्रेणी पर पहुँचकर अभ्यासी को वह योग्यता प्राप्त हो जाती है कि सचमुच शरीर के दायरे से ऊपर उठ जाए और उन वस्तुओं को देखने लगे, जो इस शरीर में रहते हुए नहीं देखी जा सकती थीं। उस दशा में अभ्यासी शरीर से संबंध तोड़ नहीं देता। जैसे कोई आदमी कमरे की खिड़की में से गरदन बाहर निकालकर देखता है कि बाहर कहाँ, क्या होता है और फिर इच्छानुसार सिर को भीतर कर लेता है, यही बात इस दशा में भी होती है। नये दीक्षितों को हम अभी यह अनुभव जगाने की सम्मति नहीं देते, ऐसा करना क्रम का उल्लंघन करना होगा। समयानुसार हम परोक्ष दर्शन की भी शिक्षा देंगे। इस समय तो इसका थोड़ा-सा उल्लेख इसलिए करना पड़ा कि कदाचित् किसी को स्वयमेव ऐसी चेतना आने लगे, तो उसे घबराना या डरना न चाहिए।

जीव के अमर होने के सिद्धांत को अधिकांश लोग विश्वास के आधार पर स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें यह जानना चाहिए कि यह बात कपोल-कल्पित नहीं है, वरन् स्वयं जीव द्वारा अनुभव में आकर सिद्ध हो सकती है। आप ध्यानावस्थित होकर ऐसी कल्पना करो कि 'हम' मर गए। कहने-सुनने में यह बात साधारण-सी मालूम पड़ती है। जो साधक पिछले पृष्ठों में दी हुई लंबी-चौड़ी भावनाओं का अभ्यास करते हैं, उनके लिए यह छोटी कल्पना कुछ कठिन

प्रतीत न होनी चाहिए, पर जब आप इसे करने बैठोगे तो यही कहोगे कि यह नहीं हो सकती। ऐसी कल्पना करना असंभव है। आप शरीर के मर जाने की कल्पना कर सकते हो, पर साथ ही यह पता रहेगा कि आपका 'मैं' नहीं मरा है, वरन् वह दूर खड़ा हुआ मृत शरीर को देख रहा है। इस प्रकार पता चलेगा कि किसी भी प्रकार अपने 'मैं' के मर जाने की कल्पना नहीं कर सकते। विचार-बुद्धि हठ करती है कि आत्मा मर नहीं सकती। उसे जीव के अमरत्व पर पूर्ण विश्वास है और चाहे जितना प्रयत्न किया जाए, वह अपने अनुभव के, त्याग के लिए उद्यत नहीं होगी। कोई आघात लगकर या क्लोरोफार्म सूँघकर बेहोश हो जाने पर भी 'मैं' जागता रहता है। यदि ऐसा न होता, तो उसे जागने पर यह ज्ञान कैसे होता कि मैं इतनी देर बेहोश पड़ा रहा हूँ। बेहोशी और निद्रा की कल्पना हो सकती है, पर जब 'मैं' की मृत्यु का प्रश्न आता है, तो चारों ओर अस्वीकृत की ही प्रतिध्वनि गूँजती है। कितने हर्ष की बात है कि जीव अपने अमर और अखंड होने का प्रमाण अपने ही अंदर दृढ़तापूर्वक धारण किए हुए है।

अपने को अमर, अखंड, अविनाशी और भौतिक संवेदनाओं से परे समझना, आत्मस्वरूप दर्शन का आवश्यक अंग है। इसकी अनुभूति हुए बिना सच्चा आत्मविश्वास नहीं होता और जीव बराबर अपनी चिरसेवित तुच्छता की भूमिका में फिसल पड़ता है, जिससे अभ्यास का सारा प्रयत्न गुड़ गोबर हो जाता है। इसलिए एकाग्रतापूर्वक अच्छी तरह अनुभव करो कि मैं अविनाशी हूँ। अच्छी तरह इसे अनुभव में लाए बिना आगे मत बढ़ो। जब आगे बढ़ने लगो, तब भी कभी-कभी लौटकर अपने इस स्वरूप का फिर परीक्षण कर लो। यह भावना आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में बड़ी सहायता देगी। आगे वह परीक्षण बताए जाते हैं, जिनके द्वारा अपने **"अच्छेद्योऽयमदाह्येयमक्लेद्योऽशोष्य एव च। नित्यः सर्वगतस्थणुरचलोऽयं सनातनः।"** (गीता २-२४) का अनुभव कर सको।

ध्यानावस्था में आत्मस्वरूप को देह से अलग करो और क्रमशः उसे आकाश, हवा, अग्नि, पानी, पृथ्वी की परीक्षा में से निकलते हुए देखो। कल्पना करो कि मेरी देह की बाधा हट गई है और अब में स्वतंत्र हो गया हूँ। अब आप आकाश में इच्छापूर्वक ऊँचे-नीचे पखेरुओं की तरह जहाँ चाहें उड़ सकते हो। हवा के वेग से गति में कुछ भी बाधा नहीं पड़ती और न उसके द्वारा जीव कुछ सूखता ही है। कल्पना करो कि बड़ी भारी आग की ज्वाला जल रही है और उसमें होकर मजे में निकल जाते हो और कुछ भी कष्ट नहीं होता है। भला जीव को आग कैसे जला सकती है ? उसकी गरमी की पहुँच तो सिर्फ शरीर तक ही थी। इसी प्रकार जीवात्मा के भीतर पानी और पृथ्वी की पहुँच वैसे ही है जैसे आकाश में किसी वस्तु का अस्तित्व अर्थात् कोई भी तत्त्व आपको छू नहीं सकता और आपकी स्वतंत्रता में तनिक भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।

इस भावना से आत्मा का स्थान शरीर से ऊँचा ही नहीं, होता, बल्कि उसको प्रभावित करने वाले पंचतत्त्वों से भी ऊपर उठता है। जीव देखने लगता है कि मैं देह ही नहीं, वरन् उसके निर्माता पंचतत्त्वों से भी ऊपर हूँ। अनुभव की इस चेतना में प्रवेश करते ही आपको प्रतीत होगा कि मेरा नया जन्म हुआ है। नवीन शक्ति का संचार अपने अंदर होता हुआ प्रतीत होगा और ऐसा भी न होगा कि पुराने वस्त्रों की तरह भय का आवरण ऊपर से हटा दिया गया है। अब ऐसा विश्वास हो जाएगा कि जिन वस्तुओं से मैं अब तक डरा करता था, वे मुझे कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सकतीं। शरीर तक ही उनकी गति है। सो ज्ञान और इच्छाशक्ति द्वारा शरीर से भी इन भयों को दूर हटाया जा सकता है।

बार-बार समझ लो। प्राथमिक शिक्षा का बीज मंत्र 'मैं' है। इसका पूरा अनुभव करने के बाद ही आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकोगे। आपको अनुभव करना होगा कि मेरी सत्ता

शरीर से भिन्न है। अपने को सूर्य के समान शक्ति का एक महान् केंद्र देखना होगा, जिसके इर्द-गिर्द अपना संसार घूम रहा है। इससे नवीन शक्ति आवेगी, जिसे तुम्हारे साथी प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। तुम स्वयं स्वीकार करोगे कि अब मैं सुदृढ़ हूँ और जीवन की आँधियाँ मुझे विचलित नहीं कर सकतीं। केवल इतना ही नहीं, इससे भी आगे। अपनी उन्नति के आत्मिक विकास के साथ उस योग्यता को प्राप्त करता हुआ भी देखोगे जिसके द्वारा जीवन की आँधियों को शांत किया जाता है और उन पर शासन किया जाता है।

आत्मज्ञानी दुनिया के भारी कष्टों की दशा में भी हँसता रहेगा और अपनी भुजा उठाकर कष्टों से कहेगा—'जाओ, चले जाओ, जिस अंधकार से तुम उत्पन्न हुए हो उसी में विलीन हो जाओ।' धन्य है वह, जिसने 'मैं' के बीज मंत्र को सिद्ध कर लिया है।

जिज्ञासुओं ! प्रथम शिक्षा का अभ्यास करने के लिए अब हमसे अलग हो जाओ। अपनी मंद गति देखो, तो उतावले मत होओ। आगे चलने में यदि पाँव पीछे फिसल पड़ें, तो निराश मत होओ। आगे चलकर आपको दूना लाभ मिल जाएगा। सिद्धि और सफलता आपके लिए है, वह तो प्राप्त होनी ही है। बढ़ो, शांति के साथ थोड़ा प्रयत्न करो।

इस पाठ के मंत्र

—मैं प्रतिभा और शक्ति का केंद्र हूँ।

—मैं विचार और शक्ति का केंद्र हूँ।

—मेरा संसार मेरे चारों ओर घूम रहा है।

—मैं शरीर से भिन्न हूँ।

—मैं अविनाशी हूँ, मेरा नाश नहीं हो सकता।

—मैं अखंड हूँ, मेरी क्षति नहीं हो सकती।

तीसरा अध्याय

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।

—गीता ३। ४२।।

शरीर से इंद्रियाँ परे (सूक्ष्म) हैं। इंद्रियों से परे मन है मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से परे आत्मा है। आत्मा तक पहुँचने के लिए क्रमशः सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ेंगी। पिछले अध्याय में आत्मा के शरीर और इंद्रियों से ऊपर अनुभव करने के साधन बताये गए थे। इस अध्याय में मन का स्वरूप समझने और उससे ऊपर आत्मा को सिद्ध करने का हमारा प्रयत्न होगा। प्राचीन दर्शनशास्त्र मन और बुद्धि को अलग-अलग गिनता है। आधुनिक दर्शनशास्त्र मन को ही सर्वोच्च श्रेणी की बुद्धि मानता है। इस बहस में आपको कोई खास दिलचस्पी लेने की जरूरत नहीं है। दोनों का मतभेद इतना बारीक है कि मोटी निगाह से वह कुछ भी प्रतीत नहीं होता, दोनों ही मन तथा बुद्धि को मानते हैं। दोनों स्थूल मन से बुद्धि को सूक्ष्म मानते हैं। हम पाठकों की सुविधा के लिए बुद्धि को मन की ही उन्नत कोटि में गिन लेंगे और आगे का अभ्यास कराएँगे।

अब तक आपने यह पहचाना है कि हमारे भौतिक आवरण क्या हैं ? अब इस पाठ में यह बताने का प्रयत्न किया जाएगा कि असली अहम् 'मैं' से कितना परे है ? वह सूक्ष्म परीक्षण है। भौतिक आवरणों का अनुभव जितनी आसानी से हो जाता है उतना सूक्ष्म शरीर में से अपने वास्तविक अहम् को पृथक् कर सकना आसान नहीं है। इसके लिए कुछ अधिक योग्यता और ऊँची चेतना होनी चाहिए। भौतिक पदार्थों से पृथकता का अनुभव हो जाने पर भी अहम् के साथ लिपटा हुआ सूक्ष्मशरीर गड़बड़ में डाल देता है। कई लोग मन को ही आत्मा समझने लगे हैं। आगे हम मन के रूप की व्याख्या न करेंगे, पर ऐसे उपाय बतावेंगे, जिससे स्थूल शरीर और भद्दे 'मैं' के टुकड़े-टुकड़े

कर सको और उनमें से तलाश कर सको कि इनमें 'अहम्' कौन-सा है ? और उनमें भिन्न वस्तुएँ कौन-सी हैं ? इस विश्लेषण को तुम मन के द्वारा कर सकते हो और उसे इसके लिए मजबूर कर सकते हो कि इन प्रश्नों का सही उत्तर दे।

शरीर और आत्मा के बीच की चेतना मन है। साधकों की सुविधा के लिए मन को तीन भागों में बाँटा जाता है। मन के पहले भाग का नाम 'प्रवृत्त मानस' है। यह पशु, पक्षी आदि अविकसित जीवों और मनुष्यों में समान रूप से पाया जाता है। गुप्त मन और सुप्त मानस भी उसे कहते हैं। शरीर के स्वाभाविक जीवन बनाए रखना इसी के हाथ में है। हमारी जानकारी के बिना भी शरीर का व्यापार अपने आप चलता रहता है। भोजन की पाचन क्रिया, रक्त का घूमना, क्रमशः रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, वीर्य का बनना, मल त्याग, श्वास, प्रश्वास, पलकें खुलना-बंद होना आदि कार्य अपने आप होते रहते हैं। आदतें पड़ जाने का कार्य इसी मन के द्वारा होता है। यह मन देर में किसी बात को ग्रहण करता है, पर जिसे ग्रहण कर लेता है, उसे आसानी से छोड़ता नहीं। हमारे पूर्वजों के अनुभव और हमारे वे अनुभव जो पाशविक जीवन से उठकर इस अवस्था में आने तक प्राप्त हुए हैं, इसी में जमा हैं। मनुष्य एक अल्प बुद्धि साधारण प्राणी था, उस समय की ईर्ष्या, द्वेष, युद्ध प्रवृत्ति, स्वार्थ, चिंता आदि साधारण वृत्तियाँ इसी के एक कोने में पड़ी रहती हैं। पिछले अनेक जन्मों के नीच स्वभाव, जिन्हें प्रबल प्रयत्नों द्वारा काटा नहीं गया है इसी विभाग में इकट्ठे रहते हैं। यह एक अद्भुत अजायब घर है, जिसमें सभी तरह की चीजें जमा हैं। कुछ अच्छी और बहुमूल्य हैं तो कुछ सड़ी-गली, भद्दी तथा भयानक भी हैं। जंगली मनुष्यों, पशुओं तथा दुष्टों में जो लाभ हिंसा, क्रूरता, आवेश, अधीरता आदि वृत्तियाँ होती हैं, वह भी सूक्ष्म रूपों से इसमें जमा हैं। यह बात दूसरी है कि कहीं उच्च मन द्वारा पूरी तरह से वे वश में रखी जाती हैं तो कहीं कम। राजस और तामसी लालसाएँ इसी मन से संबंध रखती हैं।

इंद्रियों के भोग, घमंड, क्रोध, भूख, प्यास, मैथुनेच्छा, निद्रा आदि 'प्रवृत्त मानस' के रूप हैं।

प्रवृत्त मन से ऊपर दूसरा मन है, जिसे 'प्रबुद्ध मानस' कहना चाहिए। इस पुस्तक को पढ़ते समय आप उसी मन का उपयोग कर रहे हो। इसका काम सोचना, विचारना, विवेचना करना, तुलना करना, कल्पना, तर्क तथा निर्णय आदि करना है। हाजिर जवाबी, बुद्धिमत्ता, चतुरता, अनुभव, स्थिति का परीक्षण यह सब प्रबुद्ध मन द्वारा होते हैं। याद रखो, जैसे प्रवृत्त मानस 'अहम्' नहीं है, उसी प्रकार प्रबुद्ध मानस भी वह नहीं है। कुछ देर विचार करके आप इसे आसानी के साथ 'अहम्' से अलग कर सकते हो। इस छोटी-सी पुस्तक में बुद्धि के गुण-धर्मों का विवेचन नहीं हो सकता, जिन्हें इस विषय का अधिक ज्ञान प्राप्त करना हो, वे मनोविज्ञान के उत्तमोत्तम ग्रंथों का मनन करें। इस समय इतना काफी है कि आप अनुभव कर लो कि प्रबुद्ध मन भी एक आच्छादन है न कि 'अहम्'।

तीसरे सर्वोच्च मन का नाम 'अध्यात्म मानस' है। इसका विकास अधिकांश लोगों में नहीं हुआ होता। मेरा विचार है कि आप में यह कुछ विकसने लगा है, क्योंकि इस पुस्तक को मन लगाकर पढ़ रहे हो और इसमें वर्णित विषय की ओर आकर्षित हो रहे हो। मन के इस विभाग को हम लोग उच्चतम विभाग मानते हैं और आध्यात्मिकता, आत्मप्रेरणा, ईश्वरीय संदेश, प्रतिभा आदि के नाम से जानते हैं। उच्च भावनाएँ मन के इसी भाग में उत्पन्न होकर चेतना में गति करती हैं। प्रेम, सहानुभूति, दया, करुणा, न्याय, निष्ठा, उदारता, धर्म प्रवृत्ति, सत्य, पवित्रता, आत्मीयता आदि सब भावनाएँ इसी मन से आती हैं। ईश्वरीय भक्ति इसी मन में उदय होती है। गूढ़ तत्त्वों का रहस्य इसी के द्वारा जाना जाता है। इस पाठ में जिस विशुद्ध 'अहम्' की अनुभूति के शिक्षण का हम प्रयत्न कर रहे हैं, वह इसी 'अध्यात्म मानस' के चेतना क्षेत्र से प्राप्त हो सकेगी

परंतु भूलिए मत, मन का यह सर्वोच्च भाग भी केवल उपकरण ही है। 'अहम्' यह भी नहीं है।

आपको यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि हम किसी मन की निंदा और किसी की स्तुति करते हैं तथा भार या बाधक सिद्ध करते हैं। बात ऐसी नहीं है। सब सोचते तो यह हैं कि मन की सहायता से ही आप अपनी वास्तविक सत्ता और आत्मज्ञान के निकट पहुँचे हो और आगे भी बहुत दूर तक उसकी सहायता से अपना मानसिक विकास कर सकोगे, इसलिए मन का प्रत्येक विभाग अपने स्थान पर बहुत अच्छा है, बशर्ते कि उसका ठीक उपयोग किया जाए।

साधारण लोग अब तक मन के नीच भागों को ही उपयोग में लाते हैं, उनके मानस-लोक में अभी ऐसे असंख्य गुप्त-प्रकट स्थान है, जिनकी स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकी है, अतएव मन को कोसने के स्थान पर आचार्य लोग दीक्षितों को सदैव यह उपदेश देते हैं कि उस गुप्त शक्ति को त्याज्य न ठहराकर ठीक प्रकार से क्रियाशील बनायें।

यह शिक्षा जो तुम्हें दी जा रही है, यह मन के द्वारा ही क्रिया रूप में आ सकती है और उसी के द्वारा समझने, धारण करने एवं सफल होने का कार्य हो सकता है, इसलिए हम सीधे आपके मन से बात कर रहे हैं, उसी से निवेदन कर रहे हैं कि महोदय ! अपनी उच्च कक्षा से आने वाले ज्ञान को ग्रहण कीजिए और उसके लिए अपना द्वार खोल दीजिए। हम आपकी बुद्धि से प्रार्थना करते हैं—भगवती ! अपना ध्यान उस महातत्त्व की ओर लगाइए और सत्य के अनुभवों, अपने आध्यात्मिक मन द्वारा आने वाली दैवी चेतनाओं में कम बाधा दीजिए।

अभ्यास

सुख और शांतिपूर्वक स्थित होकर आदर के साथ उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए बैठो, जो उच्च मन की उच्च कक्षा द्वारा आपको प्राप्त होने को है।

पिछले पाठ में आपने समझा था कि 'मैं' शरीर से परे कोई मानसिक चीज है, जिसमें विचार, भावना और वृत्तियाँ भरी हुई हैं। अब इससे आगे बढ़ना होगा और अनुभव करना होगा कि यह विचारणीय वस्तुएँ आत्मा से भिन्न हैं।

विचार करो कि द्वेष, क्रोध, ममता, ईर्ष्या, घृणा, उन्नति आदि की असंख्य भावनाएँ मस्तिष्क में आती रहती हैं। उनमें से हर एक को आप अलग कर सकते हो, जाँच कर सकते हो, विचार कर सकते हो, खंडित कर सकते हो, उनके उदय, वेग और अंत को भी जान सकते हो। कुछ दिन के अभ्यास से अपने विचारों की परीक्षा करने का ऐसा अभ्यास प्राप्त कर लोगे, मानो अपने किसी दूसरे मित्र की भावनाओं के उदय, वेग और अंत का परीक्षण कर रहे हो। ये सब भावनाएँ आपके चिंतन केंद्र में मिलेंगी। आप उनके स्वरूप का अनुभव कर सकते हो और उन्हें टटोल तथा हिला-डुलाकर देख सकते हो। अनुभव करो कि ये भावनाएँ आप नहीं हो। ये केवल ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें आप मन के थैले में लादे फिरते हो। अब उन्हें त्यागकर आत्मस्वरूप की कल्पना करो। ऐसी भावना सरलतापूर्वक कर सकोगे।

उन मानसिक वस्तुओं को पृथक् करके आप उन पर विचार कर रहे हो, इसी से सिद्ध होता है कि वस्तुएँ आप से पृथक् हैं। पृथकत्व की भावना अभ्यास द्वारा थोड़े समय बाद लगातार बढ़ती जाएगी और शीघ्र ही एक महान् आकार में प्रकट होगी।

यह मत सोचिए कि हम इस शिक्षा द्वारा यह बता रहे हैं कि भावनाएँ कैसे त्याग करें ? यदि आप इसी शिक्षा की सहायता से दुर्वृत्तियों को त्याग सकने की क्षमता प्राप्त कर सको, तो बहुत प्रसन्नता की बात है। पर हमारा यह मंतव्य नहीं है, हम इस समय तो यही सलाह देना चाहते हैं कि अपनी बुरी-भली सब दुर्वृत्तियों को जहाँ की तहाँ रहने दो और ऐसा अनुभव करो—'अहम्' इन सबसे परे एवं स्वतंत्र है, जब आप 'अहम्' के महान् स्वरूप का अनुभव

कर लो, तब लौट आओ और उन वृत्तियों को जो अब तक आपको अपनी चाकर बनाए हुए थीं, मालिक की भाँति उचित उपयोग में लाओ। अपनी वृत्तियों को अहम् से परे के अनुभव में पटकते समय डरो मत। अभ्यास समाप्त करने के बाद फिर वापस लौट आओगे और उनमें से अच्छी वृत्तियों को इच्छानुसार काम में ला सकोगे। अमुक वृत्ति ने मुझे बहुत अधिक बाँध लिया है, उससे कैसे छूट सकता हूँ ? इस प्रकार की चिंता मत करो, ये चीजें बाहर की हैं। इनके बंधन में बँधने से पहले 'अहम्' था और बाद में भी बना रहेगा, जब अपने को पृथक् करके उनका परीक्षण कर सकते हो, तो क्या कारण है कि एक ही झटके में उठाकर अलग नहीं फेंक सकोगे ? ध्यान देने योग्य बात यह है कि आप इस बात का अनुभव और विश्वास कर रहे हो कि 'मैं' बुद्धि और इन शक्तियों का उपभोग कर रहा हूँ। यही 'मैं' जो शक्तियों का उपकरण मानता है, मन का स्वामी 'अहम्' है।

उच्च आध्यात्मिक मन से आई प्रेरणा भी इसी प्रकार अध्ययन की जा सकती है। इसलिए उन्हें भी अहम् से भिन्न माना जाएगा। आप शंका करेंगे कि उच्च आध्यात्मिक प्रेरणा का उपयोग उस प्रकार नहीं किया जा सकता, इसलिए संभव है कि वे प्रेरणाएँ 'अहम्' वस्तुएँ हों ? आज हमें आपसे इस विषय पर कोई विवाद नहीं करना है क्योंकि आप आध्यात्मिक मन की थोड़ी-बहुत जानकारी को छोड़कर अभी इसके संबंध में और कुछ नहीं जानते, साधारण मन के मुकाबिले में वह मन ईश्वरीय भूमिका के समान है। जिन तत्त्वदर्शियों ने अहम्-ज्योति का साक्षात्कार किया है और जो विकास की उच्च-अत्युच्च सीमा तक पहुँच गए हैं, वे योगी बतलाते हैं कि 'अहम्' आध्यात्मिक मन से ऊपर रहता है और उसको अपनी ज्योति से प्रकाशित करता है, जैसे पानी पर पड़ता हुआ सूर्य का प्रतिबिंब सूर्य जैसा ही मालूम पड़ता है, परंतु सिद्धों का अनुभव है कि वह केवल धुँधली तस्वीर मात्र है। चमकता हुआ आध्यात्मिक मन यदि प्रकाश बिंब है, तो 'अहम्' अखंड ज्योति है।

वह उच्च मन में होता हुआ आत्मिक प्रकाश पाता है, इसी से वह इतना प्रकाशमय प्रतीत होता है। ऐसी दशा में उसे ही 'अहम्' मान लेने का भ्रम हो जाता है, असल में वह भी 'अहम्' है नहीं। 'अहम्' उस प्रकाश-मणि के समान है, जो स्वयं सदैव समान रूप से प्रकाशित रहती है, किंतु कपड़ों से ढँकी रहने के कारण अपना प्रकाश बाहर लाने में असमर्थ होती है। यह कपड़े जैसे-जैसे हटते जाते हैं, वैसे ही वैसे प्रकाश अधिक स्पष्ट होता जाता है। फिर भी कपड़ों के हटने या उनके और अधिक मात्रा में पड़ जाने के कारण मणि के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इस चेतना में ले जाने का इतना ही अभिप्राय है कि 'अहम्' की सर्वोच्च भावना में जागकर आप एक समुन्नत आत्मा बन जाओ और अपने उपकरणों का ठीक उपयोग करने लगो। जो पुराने, अनावश्यक, रद्दी और हानिकर परिधान है, उन्हें उतारकर फेंक सको और नवीन एवं अद्भुत क्रियाशील औजारों को उठाकर उनके द्वारा अपने सामने के कार्यों को सुंदरता और सुगमता के साथ पूरा कर सको, अपने को सफल एवं विजयी घोषित कर सको।

इतना अभ्यास और अनुभव कर लेने के बाद आप पूछोगे कि अब क्या बचा, जिसे 'अहम्' से भिन्न न गिनें ? इसके उत्तर में हमें कहना है—'विशुद्ध आत्मा।' इसका प्रमाण यह है कि अपने 'अहम्' को शरीर, मन आदि अपनी सब वस्तुओं से पृथक् करने का प्रयत्न करो। छोटी चीजों से लेकर उससे सूक्ष्म से सूक्ष्म, उससे परे से परे वस्तुओं को छोड़ते-छोड़ते विशुद्ध आत्मा तक पहुँच जाओगे। क्या अब इससे भी परे कुछ हो सकता है ? कुछ नहीं। विचार करने वाला, परीक्षा करने वाला और परीक्षा की वस्तु दोनों एक वस्तु नहीं हो सकते। सूर्य अपनी किरणों द्वारा अपने ही ऊपर नहीं चमक सकता। आप विचार और जाँच की वस्तु नहीं हो। फिर भी आपकी चेतना कहती है कि 'मैं हूँ', यही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है।

अपनी कल्पना शक्ति, स्वतंत्रता शक्ति लेकर इस 'अहम्' को पृथक् करने का प्रयत्न कर लीजिए, परंतु फिर भी हार जाओगे और उससे आगे नहीं बढ़ सकोगे। अपने को मरा हुआ नहीं मान सकते। यही विशुद्ध आत्मा अविनाशी, अविकारी, ईश्वरीय समुद्र का बिंदु, परमात्मा की किरण है।

हे साधक ! अपनी आत्मा का अनुभव प्राप्त करने में सफल होओ और समझो कि आप सोते हुए देवता हो। अपने भीतर प्रकृति की महान् सत्ता धारण किए हुए हो, जो कार्यरूप में परिणत होने के लिए हाथ बाँधकर खड़ी हुई आज्ञा माँग रहीं है। इस स्थान तक पहुँचने में बहुत कुछ समय लगेगा पहली मंजिल तक पहुँचने में भी कुछ देर लगेगी, परंतु आध्यात्मिक विकास की चेतना में प्रवेश करते ही आँखें खुल जाएँगी। आगे का प्रत्येक कदम साफ होता जाएगा और प्रकाश प्रकट होता जाएगा।

इस पुस्तक के अगले अध्याय में हम यह बतावेंगे कि आपकी विशुद्ध आत्मा भी स्वतंत्र नहीं, वरन् परमात्मा का ही एक अंश है और उसी में किस प्रकार ओत-प्रोत हो रही है ? परंतु उस ज्ञान को ग्रहण करने से पूर्व आपको अपने भीतर 'अहम्' की चेतना लगा लेनी पड़ेगी। हमारी इस शिक्षा को शब्द-शब्द और केवल शब्द समझकर उपेक्षित मत करो, इस निर्मल व्याख्या को तुच्छ समझकर तिरस्कृत मत करो, यह एक बहुत सच्ची बात बताई जा रही है। आपकी आत्मा इन पंक्तियों को पढ़ते समय आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होने की अभिलाषा कर रही है। उसका नेतृत्व ग्रहण करो और आगे को कदम उठाओ।

अब तक बताई हुई मानसिक कसरतों का अभ्यास कर लेने के बाद 'अहम्' से भिन्न पदार्थों का आपको पूरा निश्चय हो जाएगा। इस सत्य को ग्रहण कर लेने के बाद अपने को मन एवं

वृत्तियों का स्वामी अनुभव करोगे और तब उन सब चीजों को पूरे बल और प्रभाव के साथ काम में लाने की सामर्थ्य प्राप्त कर लोगे।

इस महान् तत्त्व की व्याख्या में हमारे ये विचार और शब्दावली हीन, शिथिल और सस्ते प्रतीत होते होंगे। यह विषय अनिर्वचनीय है। वाणी की गति वहाँ तक नहीं है। गुड़ का मिठास जबानी जमा-खर्च द्वारा नहीं समझाया जा सकता। हमारा प्रयत्न केवल इतना ही है कि आप ध्यान और दिलचस्पी की तरफ झुक पड़ो और इन कुछ मानसिक कसरतों को करने के अभ्यास में लग जाओ। ऐसा करने से मन वास्तविकता का प्रमाण पाता जाएगा और आत्मस्वरूप में दृढ़ता होती जाएगी। जब तक स्वयं अनुभव न हो जाए, तब तक ज्ञान, ज्ञान नहीं है। एक बार जब आपको उस सत्य के दर्शन हो जाएँगे, तो वह फिर दृष्टि से ओझल नहीं हो सकेगा और कोई वाद-विवाद उस पर अविश्वास नहीं करा सकेगा।

अब आपको अपने को दास नहीं, स्वामी मानना पड़ेगा। आप शासक हो और मन आज्ञापालक। मन द्वारा जो अत्याचार अब तक आपके ऊपर हो रहे थे, उन सबको फड़फड़ाकर फेंक दो और अपने को उनसे मुक्त हुआ समझो। आपको आज राज्य सिंहासन सौंपा जा रहा है, अपने को राजा अनुभव करो। दृढ़तापूर्वक आज्ञा दो कि स्वभाव, विचार, संकल्प, बुद्धि, कामनाएँ रूपी समस्त कर्मचारी शासन को स्वीकार करें और नये संधिपत्र पर दस्तखत करें कि हम वफादार नौकर की तरह अपने राजा की आज्ञा मानेंगे और राज्य-प्रबंध को सर्वोच्च एवं सुंदरतम बनाने में रत्ती भर भी प्रमाद न करेंगे।

लोग समझते हैं कि मन ने हमें ऐसी स्थिति में डाल दिया है कि हमारी वृत्तियाँ हमें बुरी तरह काँटों में घसीटे फिरती हैं और तरह-तरह से त्रास देकर दुखी बनाती हैं। साधक इन दुःखों से छुटकारा पा जावेंगे, क्योंकि वह उन सब उद्‌गमों से परिचित हैं

और यहाँ काबू पाने की योग्यता संपादन कर चुके हैं। किसी बड़े मिल में सैकड़ों घोड़ों की ताकत से चलने वाला इंजन और उसके द्वारा संचालित होने वाली सैकड़ों मशीनें तथा उनके असंख्य कल पुरजे किसी अनाड़ी को डरा देंगे। वह उस घर में घुसते ही हड़बड़ा जाएगा, किसी पुरजे में धोती फँस गई तो उसे छुटाने में असमर्थ होगा और अज्ञान के कारण बड़ा त्रास पावेगा किंतु वह इंजीनियर जो मशीनों के पुरजे-पुरजे से परिचित है और इंजन चलाने के सारे सिद्धांत को भली भाँति समझा हुआ है, उस कारखाने में घुसते हुए तनिक भी न घबरावेगा और गर्व के साथ उन दैत्याकार यंत्रों पर शासन करता रहेगा, जैसा एक महावत हाथी पर और सपेरा भयंकर विषधरों पर करता है। उसे इतने बड़े यंत्रालय का उत्तरदायित्व लेते हुए भय नहीं, अभिमान होगा। वह हर्ष और प्रसन्नतापूर्वक शाम को मिल मालिक को हिसाब देगा, बढ़िया माल की इतनी बड़ी राशि उसने थोड़े समय में ही तैयार कर दी है। उसकी फूली हुई छाती पर से सफलता का गर्व मानों टपक पड़ रहा है। जिसने अपने 'अहम्' और वृत्तियों का ठीक-ठीक स्वरूप और संबंध जान लिया है, वह ऐसा ही कुशल इंजीनियर—यंत्र-संचालक है। अधिक दिनों का अभ्यास और भी अद्‍भुत शक्ति देता है। जाग्रत मन् ही नहीं, उस समय प्रवृत्त मन, गुप्त मानस भी शिक्षित हो गया होता है और वह जो आज्ञा प्राप्त करता है, उसे पूरा करने के लिए चुपचाप तब भी काम किया करता है, जब हम दूसरे कामों में लगे होते हैं या सोए होते हैं। गुप्त मन जब उन कार्यों को पूरा करके सामने रखता है, तब नया साधक चौंकता है कि यह अदृष्ट सहायता है, अलौकिक करामात है, परंतु योगी उन्हें समझाता है कि यह आपकी अपनी अपरिचित योग्यता है, इससे असंख्य गुनी प्रतिभा तो अभी आप में सोई पड़ी है।

संतोष और धैर्य धारण करो। कार्य कठिन है, पर इसके द्वारा जो पुरस्कार मिलता है, उसका लाभ बड़ा भारी है। यदि वर्षों के

कठिन अभ्यास और मनन द्वारा भी आप अपने पद, सत्ता, महत्व, गौरव, शक्ति की चेतना प्राप्त कर सको, तब भी वह करना ही चाहिए। यदि आप इन विचारों में हमसे सहमत हों, तो केवल पढ़कर ही संतुष्ट मत हो जाओ। अध्ययन करो, मनन करो, आशा करो, साहस करो और सावधानी तथा गंभीरता के साथ इस साधन-पथ की ओर चल पड़ो।

इस पाठ का बीज मंत्र

—'मैं' सत्ता हूँ। मन मेरे प्रकट होने का उपकरण है।

—'मैं' मन से भिन्न हूँ। उसकी सत्ता पर आश्रित नहीं हूँ।

—'मैं' मन का सेवक नहीं, शासक हूँ।

—'मैं' बुद्धि, स्वभाव, इच्छा और अन्य समस्त मानसिक उपकरणों को अपने से अलग कर सकता हूँ। तब जो कुछ शेष रह जाता है, वह 'मैं' हूँ।

—'मैं' अजर-अमर, अविकारी और एक रस हूँ।

—'मैं हूँ'.........

चौथा अध्याय

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

—ईशावास्यो०-१

'संसार में जितना भी कुछ है, वह सब ईश्वर से ओत-प्रोत है।'

पिछले अध्यायों में आत्मस्वरूप और उसके आवरणों से जिज्ञासुओं को परिचित कराने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में आत्मा और परमात्मा का संबंध बताने का प्रयत्न किया जाएगा। अब तक जिज्ञासु 'अहम्' का जो रूप समझ सके हैं, वास्तव में वह उससे कहीं अधिक है। विश्वव्यापी आत्मा परमात्मा, महत्तत्त्व, परमेश्वर का ही वह अंश है। तत्त्वतः उसमें कोई भिन्नता नहीं है।

आपको अब इस तरह अनुभव करना चाहिए कि 'मैं' अब तक अपने को जितना समझता हूँ, उससे कई गुना बड़ा हूँ। 'अहम्' की सीमा समस्त ब्रह्मांडों के छोर तक पहुँचती है। वह परमात्म शक्ति की सत्ता में समाया हुआ है और उसी से इस प्रकार पोषण ले रहा है जैसे गर्भस्थ बालक अपनी माता के शरीर से। वह परमात्मा का निज तत्त्व है। आपको आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करना होगा और क्रमशः अपनी अहंता को बढ़ाकर अत्यंत महान् कर देने को अभ्यास में लाना होगा। तब उस चेतना में जग सकोगे, जहाँ पहुँचकर योग के आचार्य कहते हैं—'सोऽहम्'।

आइए, अब इसी अभ्यास की यात्रा आरंभ करें। अपने चारों ओर दूर तक नजर फैलाओ और अंतर नेत्रों से जितनी दूरी तक के पदार्थों को देख सकते हो देखो, प्रतीत होगा कि एक महान् विश्व चारों ओर बहुत दूर, बहुत दूर तक फैला हुआ है। यह विश्व केवल ऐसा ही नहीं है, जैसा मोटे तौर पर समझा जाता है, वरन् यह एक चेतना का समुद्र है। प्रत्येक परमाणु आकाश एवं ईथर तत्त्व में बराबर गति करता हुआ आगे को बह रहा है। शरीर के तत्त्व हर घड़ी बदल रहे हैं। आज जो रासायनिक पदार्थ एक

वनस्पति में है, वह कल भोजन द्वारा हमारे शरीर में पहुँचेगा और परसों मल रूप में निकलकर अन्य जीवों के शरीर का अंग बन जाएगा। डॉक्टर बताते हैं कि शारीरिक कोश हर घड़ी बदल रहे हैं, पुराने नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर नये आ जाते हैं। यद्यपि देखने में शरीर ज्यों-का-त्यों रहता है, पर कुछ ही समय में वह बिलकुल बदल जाता है और पुराने शरीर का एक कण भी बाकी नहीं बचता। वायु, जल और भोजन द्वारा नवीन पदार्थ शरीर में प्रवेश करते हैं और श्वास-क्रिया तथा मल-त्याग के रूप में बाहर निकल जाते हैं। भौतिक पदार्थ बराबर अपनी धारा में बह रहे हैं। नदी-तल में पड़े हुए कछुए के ऊपर होकर नवीन जलधारा बहती रहती है, तथापि वह केवल इतना ही अनुभव करता है कि पानी मुझे घेरे हुए है और मैं पानी में पड़ा हुआ हूँ। हम लोग भी उस निरंतर बहने वाली प्रकृति-धारा से भली भाँति परिचित नहीं होते, तथापि वह पल भर भी ठहरे बिना बराबर गति करती रहती है। यह मनुष्य शरीर तक ही सीमित नहीं, वरन् अन्य जीवधारियों, वनस्पतियों और जिन्हें हम जड़ मानते हैं, उन सब पदार्थों में होती हुई आगे बढ़ती रहती है। हर चीज हर घड़ी बदल रही है। कितना ही प्रयत्न क्यों न किया जाए, इस प्रवाह की एक बूँद को क्षण भर भी रोककर नहीं रखा जा सकता, यह भौतिक सत्य, आध्यात्मिक सत्य भी है। फकीर गाते हैं—'यह दुनिया आनी-जानी है।'

भौतिक द्रव्य प्रवाह को आप समझ गए होंगे। यही बात मानसिक चेतनाओं की है। विचारधाराएँ, शब्दावलियाँ, संकल्प आदि का प्रवाह भी ठीक इसी प्रकार जारी है। जो बातें एक व्यक्ति सोचता है, वही बात दूसरे के मन में उठने लगती है। दुराचार के अड्डों का वातावरण ऐसा घृणित होता है कि वहाँ जाते-जाते नये आदमी का दम घुटने लगता है। शब्दधारा अब वैज्ञानिक यंत्रों के वश में आ गई है। रेडियो, बेतार का तार शब्द लहरों का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मस्तिष्क में आने-जाने वाले विचारों के अब फोटो लिए जाने लगे हैं, जिससे यह पता चल जाता है कि अमुक आदमी किन विचारों को ग्रहण कर रहा

है और कैसे विचार छोड़ रहा है ? बादलों की तरह विचार-प्रवाह आकाश में मड़राता रहता है और लोगों की आकर्षण शक्ति द्वारा खींचा व फेंका जा सकता है। यह विज्ञान बड़ा महत्त्वपूर्ण और विस्तृत है, इस छोटी पुस्तक में उसका वर्णन कठिन है।

मन के तीनों अंग—प्रवृत्त मानस, प्रबुद्ध मानस, आध्यात्मिक मानस भी अपने स्वतंत्र प्रवाह रखते हैं अर्थात् यों समझना चाहिए कि **'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।'** आत्मा को छोड़कर शेष संपूर्ण शारीरिक और मानसिक परमाणु गतिशील हैं। ये सब वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थानों को चलती रहती हैं। जिस प्रकार शरीर के पुराने तत्त्व आगे बढ़ते और नये आते रहते हैं, उसी प्रकार मानसिक पदार्थों के बारे में भी समझना चाहिए। उस दिन आपका निश्चय था कि आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा, आज विषय-भोगों से नहीं अघाते। उस दिन निश्चय था कि अमुक व्यक्ति की जान लेकर अपना बदला चुकाऊँगा, आज उनके मित्र बने हुए हैं। उस दिन रो रहे थे कि किसी भी प्रकार धन कमाना चाहिए, आज सब कुछ कमाकर संन्यासी हो रहे हैं। ऐसे असंख्य परिवर्तन होते रहते हैं। क्यों ? इसलिए कि पुराने विचार चले गए और नये उनके स्थान पर आ गए।

विश्व की दृश्य-अदृश्य सभी वस्तुओं की गतिशीलता की धारणा, अनुभूति और निष्ठा यह विश्वास करा सकती है कि संपूर्ण संसार एक है। एकता के आधार पर उसका निर्माण हुआ है। मेरी अपनी वस्तु कुछ भी नहीं है या संपूर्ण वस्तुएँ मेरी हैं। तेज बहती हुई नदी के बीच धार में आपको खड़ा कर दिया जाए और पूछा जाए कि पानी के कितने और कौन-से परमाणु आपके हैं, तब क्या उत्तर दोगे ? विचार करोगे कि पानी की धारा बराबर बह रही है। पानी के ज़ो परमाणु इस समय मेरे शरीर को छू रहे हैं, पलक मारते-मारते बहुत दूर निकल जाएँगे। जलधारा बराबर मुझसे छूकर

चलती जा रही है, तब या तो संपूर्ण जलधारा को अपनी बताऊँ या यह कहूँ कि मेरा कुछ भी नहीं है, यह विचार कर सकते हो।

संसार जीवन और शक्ति का समुद्र है। जीव इसमें होकर अपने विकास के लिए आगे को बढ़ता जाता है और अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ लेता और छोड़ता जाता है। प्रकृति मृतक नहीं है। जिसे हम भौतिक पदार्थ कहते हैं, उसके समस्त परमाणु जीवित हैं। वे सब शक्ति से उत्तेजित होकर लहलहा, चल, सोच और जी रहे हैं। इसी जीवित समुद्र की सत्ता के कारण हम सबकी गतिविधि चल रही हैं। एक ही तालाब की हम सब मछलियाँ हैं। विश्वव्यापी शक्ति, चेतना और जीवन के परमाणु विभिन्न अनूभूतियों को झंकृत कर रहे हैं।

उपर्युक्त अनुभूति आत्मा के उपकरणों और वस्त्रों के विस्तार के लिए काफी है। हमें सोचना चाहिए कि केवल यह सब शरीर मेरे हैं, जिनमें एक ही चेतना ओत-प्रोत हो रही है। जिन भौतिक वस्तुओं तक आप अपनापन सीमित रख रहे हो, अब उससे बहुत आगे बढ़ना होगा और सोचना होगा कि 'इस विश्वसागर की इतनी बूँदें ही मेरी हैं, यह मानस भ्रम हैं। मैं इतना बड़ा वस्त्र पहने हुए हूँ, जिसके अंचल में समस्त संसार ढका हुआ है।' यही आत्मशरीर का विस्तार है। इसका अनुभव उस श्रेणी पर ले पहुँचेगा, जिस पर पहुँचा हुआ मनुष्य योगी कहलाता है। गीता कहती है—

सर्व भूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मका सर्वत्र समदर्शनः।।

—गीता-६-२९

सर्वव्यापी अनंत चेतना में एकीभाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला तथा सबको समभाव से देखने वाला योगी, आत्मा को संपूर्ण भूतों में और संपूर्ण भूतों को आत्मा में देखता है।

अपने परिधान का विस्तार संपूर्ण जीवों के बाह्य स्वरूपों में आत्मीयता का अनुभव करता है। आत्माओं की आत्माओं में तो

आत्मीयता है ही, ये सब आपस में परमात्म सत्ता द्वारा बँधे हुए हैं। अधिकारी आत्माएँ आपस में एक हैं। इस एकता के ईश्वर बिलकुल निकट हैं। यहाँ हम परमात्मा के दरबार में प्रवेश पाने योग्य और उनमें घुल-मिल जाने योग्य होते हैं, वह दशा अनिर्वचनीय है। इसी अनिर्वचनीय आनंद की चेतना में प्रवेश करना समाधि है और उनका निश्चित परिणाम आजादी, स्वतंत्रता, स्वराज्य, मुक्ति, मोक्ष होगा।

एकता का अनुभव करने का अभ्यास

ध्यानावस्थित होकर भौतिक जीवन-प्रवाह पर चित्त जमाओ। अनुभव करो कि समस्त ब्रह्मांडों में एक ही चेतना शक्ति लहलहा रही है, उसी के विकार भेद से पंचतत्त्व निर्मित हुए हैं। इंद्रियों द्वारा जो विभिन्न प्रकार के सुख-दुःख अनुभव होते हैं, वह तत्त्वों की विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाएँ हैं, जो इंद्रियों के तारों से टकराकर विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार की झंकारें उत्पन्न करती हैं। समस्त लोकों का मूल शक्ति तत्त्व एक ही है और उससे मैं भी उसी प्रकार गति प्राप्त कर रहा हूँ जैसे दूसरे। यह एक साझे का कंबल है, जिसमें लिपटे हुए हम सब बालक बैठे हैं। इस सचाई को अच्छी तरह कल्पना में लाओ, बुद्धि का ठीक-ठीक अनुभव करने, समझने और हृदय को स्पष्टतः अनुभव करने दो।

स्थूल भौतिक पदार्थों की एकता का अनुभव करने के बाद सूक्ष्म मानसिक तत्त्व की एकता की कल्पना करो। वह भी भौतिक द्रव्य की भाँति एक ही तत्त्व है। आपका मन महामन की एक बूँद है। जो ज्ञान और विचार मस्तिष्क में भरे हुए हो, वह मूलतः सार्वभौम ज्ञान और विचारधारा के कुछ परमाणु हैं और उन्हें पुस्तकों द्वारा, गुरु-मुख द्वारा या ईथर-आकाश में बहने वाली धाराओं से प्राप्त किया गया होता है। यह भी एक अखंड गतिमान् शक्ति है और उसका उपयोग वैसे ही कर रहे हो, जैसे नदी में पड़ा हुआ कछुआ अविचल गति से बहते हुए जल-परमाणुओं में से कुछ को पीता है और फिर उसी में मूत्ररूप में त्याग देता है। इस

सत्य को भी बराबर हृदयंगम करो और अच्छी तरह मानस-पटल पर अंकित कर लो।

अपने शारीरिक और मानसिक वस्त्रों की भावना दृढ़ होते ही संसार आपका और आप संसार के हो जाओगे। कोई वस्तु बिरानी मालूम पड़ेगी। यह सब मेरा है या मेरा कुछ भी नहीं, इन दोनों वाक्यों में तब आपको कुछ भी अंतर न मालूम पड़ेगा। वस्त्रों से ऊपर आत्मा को देखो—यह नित्य, अखंड, अक्षर, अमर, अपरिवर्तनशील और एकरस है। वह जड़, अविकसित, नीच प्राणियों, तारागणों, ग्रहों, समस्त ब्रह्मांडों को प्रसन्नता और आत्मीयता की दृष्टि से देखता है। बिराना, घृणा करने योग्य, सताने के लायक या छाती से चिपटा रखने के लायक कोई पदार्थ वह नहीं देखता। अपने घर और पक्षियों के घोंसले के महत्त्व में उसे तनिक भी अंतर नहीं दीखता। ऐसी उच्च कक्षा का प्राप्त हो जाना केवल आध्यात्मिक उन्नति और ईश्वर के लिए ही नहीं, वरन् सांसारिक लाभ के लिए भी आवश्यक है। इस ऊँचे टीले पर खड़ा होकर आदमी संसार का सच्चा स्वरूप देख सकता है और यह जान सकता है कि किस स्थिति में किससे, क्या बर्ताव करना चाहिए ? उसे सद्‌गुणों का पुंज, उचित क्रिया, कुशलता और सदाचार सीखने नहीं पड़ते, वरन् केवल यही चीजें उसके पास शेष रह जाती हैं और वे बुरे स्वभाव न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं, जो जीवन को दुःखमय बनाए रहते हैं ?

यहाँ पहुँचा हुआ स्थितप्रज्ञ देखता है कि सब अविनाशी आत्माएँ यद्यपि इस समय स्वतंत्र, तेजस्वरूप और गतिवान् प्रतीत होती हैं, तथापि उनकी मूलसत्ता एक ही है, विभिन्न घटों में एक ही आकाश भरा हुआ है और अनेक जलपात्रों में एक ही सूर्य का प्रतिबिंब झलक रहा है। यद्यपि बालक का शरीर पृथक् है, परंतु उसका सारा भाग माता-पिता के अंश का ही बना है। आत्मा सत्य है, पर उसकी सत्यता परमेश्वर है। विशुद्ध और मुक्त आत्मा

परमात्मा है, अंत में आकर यहाँ एकता है। वहीं वह स्थित है, जिस पर खड़े होकर जीव कहता है—'सोऽहमस्मि' अर्थात् वह परमात्मा मैं हूँ और उसे अनुभूति हो जाती है कि संसार के संपूर्ण स्वरूपों के नीचे एक जीवन, एक बल, एक सत्ता, एक असलियत छिपी हुई है।

दीक्षितों को इस चेतना में जग जाने के लिए हम बार-बार अनुरोध करेंगे, क्योंकि 'मैं क्या हूँ ?' इस सत्यता का ज्ञान प्राप्त करना सच्चा ज्ञान है। जिसने सच्चा ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उसका जीवन प्रेम, दया, सहानुभूति, सत्य और उदारता से परिपूर्ण होना चाहिए। कोरी कल्पना या पोथी-पाठ से क्या लाभ हो सकता है ? सच्ची सहानुभूति ही सच्चा ज्ञान है और सच्चे ज्ञान की कसौटी उसका जीवन व्यवहार में उतारना ही हो सकता है।

इस पाठ के मंत्र

— मेरी भौतिक वस्तुएँ महान् भौतिक तत्त्व की एक क्षणिक झाँकी हैं।

— मेरी मानसिक वस्तुएँ अविच्छिन्न मानस तत्त्व का एक खंड है।

— भौतिक और मानसिक तत्त्व निर्बाध गति से बह रहे हैं, इसलिए मेरी वस्तुओं का दायरा सीमित नहीं, समस्त ब्रह्मांडों की वस्तुएँ मेरी हैं।

— अविनाशी आत्मा परमात्मा का अंश है और अपने विशुद्ध रूप में वह परमात्मा ही है।

— मैं विशुद्ध हो गया हूँ, परमात्मा और आत्मा की एकता का अनुभव कर रहा हूँ।

— 'सोऽहमस्मि'—मैं वह हूँ।

मुद्रक: युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

: युगऋषि पं. श्रीराम शर्मा आचार्य- संक्षिप्त परिचय :

ज्यादा जानकारी यहाँ से प्राप्त करें : http://hindi.awgp.org/about_us

- **विचारक्रान्ति अभियान के प्रणेता** : विचारों को परिस्कृत और ऊँचा उथाने मे समर्थ 3000 से भी अधिक पुस्तकों के लेखन के माध्यम से विश्वव्यापी विचार क्रान्ति अभियान की शरुआत की ।
- **वेद, पुराण, उपनिषद के प्रसिद्ध भाष्यकार** : जिन्हों ने चारों वेद, 108 उपनिषद, षड दर्शन, 20 स्मृतियाँ एवं 18 पुराणों का युगानुकूल भाष्य किया, साथ ही 19 वाँ प्रज्ञा पुराण की रचना भी की ।
- **3000 से अधिक पुस्तकों के लेखक** : मनुष्य को देवता समान, घर-परिवार को स्वर्ग, समाज को सभ्य और समग्र विश्वराष्ट्र को श्रेष्ठ बनाने मे समर्थ हजारों पुस्तकें लिखकर समयानुकूल समर्थ मार्गदर्शन प्रदान किया ।
- **युग-निर्माण योजना के सूत्रधार** : जिन्होंने शतसूत्री युग निर्माण योजना बनाकर नये युग की आधार शिला रखी ।
- **वैज्ञानिक-अध्यात्मवाद के प्रणेता** : जिन्हों ने धर्म और विज्ञान के समन्वय की प्रथम प्रयोगशाला 'ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान' स्थापित कर सिद्ध किया कि "धर्म और विज्ञान विरोधी नहीं, पुरक है "।
- **'२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' के उद्घोषक** : जिन्हों ने '२१ वीं सदी : उज्जवल भविष्य' का नारा दिया तथा युग विभीषिकाओं से भयग्रस्त मनुष्यता को नये युग के आगमन का संदेश दिया ।
- **स्वतंत्रता संग्राम के कर्मठ सैनानी** : जिन्हों ने महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय, गुरुवर रविन्द्रनाथ टैगोर के साथ राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया एवं स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी "श्रीराम मत्त" के रुप में प्रख्यात हुए ।
- **गायत्री के सिद्ध साधक** : जिन्हों ने गायत्री और यज्ञ को रुढियों और पाखण्ड से मुक्त कर जन-जन की उपासना का आधार तथा सद्‌बुद्धि एवं सतकर्म जागरण का माध्यम बनाया ।
- **तपस्वी** : जिन्होंने गायत्री की कठोरतम साधना कर २४-२४ लाख के २४ महापुरश्चरण २४ वर्षो में सम्पन्न किया । प्रकृति प्रकोप को शांत कर अनिष्टों को टाला, सृजन सम्भावनाओं को साकार किया ।
- **अखिल विश्व गायत्री परिवार के जनक** : जिन्हों ने अपने जीवनकाल में ही अपने साथ करोडों लोगों को आत्मियता के सूत्र में बाँधकर विश्व व्यापी 'युग निर्माण परिवार' - 'गायत्री परिवार' का गठन किया ।
- **समाज सुधारक** : जिन्हों ने नारी जागरण, व्यसन मुक्ति, आदर्श विवाह, जाति-पाँति प्रथा तथा परंपरागत रुढियों की समाप्ति हेतु अद्‌भूत प्रयास किए एवं एक आदर्श स्वरुप समाज में प्रस्तुत किया ।
- **ऋषि परम्परा के उद्धारक** : जिन्हों ने इस युग में महान ऋषियों की महान परंपराओं की पुनर्स्थापना की । लुप्तप्राय संस्कार परंपरा को पुनर्जीवित कर जन-जन को अवगत कराया ।
- **अवतारी चेतना** : जिन्होंने "धरती पर स्वर्ग के अवतरण और मनुष्य में देवत्व के जागरण" की अवतारी घोषणा को अपना जीवन लक्ष्य बनाया और चेतना का ऐसा प्रवाह चलाया कि करोंडों व्यक्ति उस ओर चल पड़े ।

गायत्री परिवार जीवन जीने कि कला के, संस्कृति के आदर्श सिद्धांतों के आधार पर परिवार,समाज,राष्ट्र युग निर्माण करने वाले व्यक्तियों का संघ है। **वसुधैवकुटुम्बकम्** की मान्यता के आदर्श का अनुकरण करते हुये हमारी प्राचीन ऋषि परम्परा का विस्तार करने वाला समूह है गायत्री परिवार। एक संत, सुधारक, लेखक, दार्शनिक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक और दूरदर्शी युगऋषि पंडित श्रीराम शर्मा आचार्य जी द्वारा स्थापित यह मिशन युग के परिवर्तन के लिए एक जन आंदोलन के रूप में उभरा है।